खण्ड 4
पातञ्जलयोगदर्शन

खण्ड 4 खण्ड परिचय

संस्कृत पाठ्यक्रम का यह चतुर्थ खण्ड है। इसमें कुल तीन इकाईयाँ निबद्ध हैं। यह खण्ड मुख्यतः महर्षि पतञ्जलि विरचित योगसूत्र एवं उसके सुप्रसिद्ध व्यासभाष्य को केन्द्रित करके अग्रसरित हुआ है। सर्वविदित है कि भारतीय ज्ञान परम्परा में योग आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक विद्या है। योग विद्या सृष्टि के आदि से ही मानव के जीवन से सम्बद्ध रही है। योग त्रिविध दुःखों से मुक्ति के लिए अत्यन्त सरल साधन है। योग का स्वरूप चित्तवृत्तियों के स्वरूपविवेचन से प्रारम्भ होकर चित्तवृत्तियों के निरोध तक व्याप्त है। चित्तवृत्तियों के निरोध एवं उनसे प्राप्त होने वाले फलों के विवेचन में ही पतञ्जलि विरचित योगसूत्र सम्पूर्ति को प्राप्त होता है। चतुर्थ खण्ड के प्रथम इकाई अर्थात् इस पाठ्यक्रम के १२वें इकाई में योग का ऐतिहासिक परिचय दिया गया है जिसमें योग की उत्पत्ति, योग का वैदिक सन्दर्भ, योग का औपनिषदिक सन्दर्भ, योग का पौराणिक सन्दर्भ, योग के अन्यत्र प्राप्त होने वाले सन्दर्भ, योग का प्रतिपाद्य आदि विषयों का सन्दर्भसहित विवेचन किया गया है। इस खण्ड के द्वितीय इकाई अर्थात् १३वें इकाई में पतञ्जलि योगसूत्र के प्रथम से चतुर्थ सूत्र तक का व्यासभाष्य के साथ सविशद विश्लेषण किया गया है जहाँ सर्वप्रथम योगसूत्र के प्रथम सूत्र **'अथ योगानुशासनम्'** का शास्त्रदृष्टि से विवेचन करते हुए अथ, योग, अनुशासन पद का विश्लेषण किया गया है। आगे योग के लक्षण सूत्र **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** का व्यासभाष्य के साथ विमर्श किया गया है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों में भी प्राप्त योग के लक्षणों का भी यथावसर वर्णन किया गया है। योगयुक्त पुरुष लोक से विमुक्त हो जाता है उस समय उसका स्वरूप स्वस्वरूप में स्थित होता है। इसी प्रकार जब पुरुष अपने स्वरूप में स्थित नहीं होता है तो वह चित्तवृत्तियों के अनुसार विषयों का उपभोग करता रहता है। इस खण्ड के तृतीय इकाई अर्थात् पाठ्यक्रम के १४वें इकाई में योगसूत्र ५–१६ तक के सूत्रों का विवेचन किया गया है। इस इकाई में चित्तवृत्ति का स्वरूप, चित्तवृत्ति के भेद, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति का सन्दर्भ पूर्वक विश्लेषण किया गया है। इसी क्रम में चित्तवृत्ति के निरोध के उपायों अभ्यास एवं वैराग्य का शास्त्रदृष्ट्या विमर्श किया गया है।

इस प्रकार इस चतुर्थ खण्ड में योग के ऐतिहासिक परिचय से प्रारम्भ कर योगलक्षण, चित्तवृत्तिस्वरूप, चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय, अभ्यास एवं वैराग्य का विश्लेषण सन्निहित है। प्रत्येक इकाई में यथोचित पारिभाषिक शब्दों की शब्दावली दी गयी है। प्रत्येक इकाई में अभ्यास प्रश्न भी दिये गये हैं तथा प्रत्येक इकाई में सन्दर्भ ग्रन्थ सूची भी दी गयी है जिसका अध्ययन करके जिज्ञासु इन विषयों का विशेष ज्ञान कर सकते हैं।

इकाई 12 योगदर्शन का परिचय (पातञ्जलयोगदर्शन एवं व्यासभाष्य)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

- भारत की प्राचीन विद्या योग के ऐतिहासिक स्वरूप को समझ सकेंगे।
- योग के प्रारम्भिक स्वरूप को जान सकेंगे।
- योग की प्रारम्भिक उत्पत्ति को समझ सकेंगे।
- योग के वैदिक, पौराणिक आदि सन्दर्भों को जान सकेंगे।
- योग के प्रयोजन एवं व्यावहारिक उपादेयता को समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

आदिकाल से ही मानव सुखाभिलाषी एवं दुःखनिवृत्ति हेतु प्रयत्नरत रहा है। अरुचिकर वस्तु के आकस्मिक सान्निध्य से होने वाली पीड़ा दुःख है। शास्त्रों में दुःख को अनेक भेदों में विभाजित किया है तथा इन दुःखों के नाश के अनेक साधन भी बताये हैं, उनमें दर्शन अन्यतम है। जिसके द्वारा सत्य एवं परमार्थ तत्त्व को देखा जा सके वह दर्शन है। जो परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति में अन्यतम हेतु है वह दर्शन है। 'दृश् दर्शने' धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर दर्शन शब्द निष्पन्न होता है। दर्शन का सामान्य अर्थ प्रत्यक्ष होता है किन्तु यह प्रत्यक्ष चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं अपितु पारमार्थिक प्रत्यक्ष होता है। **'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'** इस व्युत्पत्ति से दर्शन करण अर्थ में प्रयुक्त होगा। यहाँ दर्शन सत्यार्थ प्रत्यक्ष में साधन रूप में प्रयुक्त होता है। उस परम तत्त्व के दर्शन एवं जानने में साधन रूप में प्रयुक्त होता है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा का दर्शन, श्रवण और निदिध्यासन करना चाहिए जिससे मनुष्य आत्मस्वरूप को जानकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है यह दर्शन ही बताता है– **आत्मा वारे मैत्रेयः द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च**[1]। वस्तुतः अप्रत्यक्ष वस्तु का उद्‌घाटन करना ही दर्शन है जैसा कि एक दृष्टान्त के द्वारा उपनिषद् में बताया जाता है कि सोने के ढक्कन से सत्य का मुख ढका हुआ है, देखने मात्र से वह अत्यन्त ही रुचिकर एवं प्रिय लगता है, उस ढक्कन को कोई हटाना नहीं चाहता है किन्तु जैसे ही वह ढक्कन तत्त्वज्ञान द्वारा हटाया जाता है वैसे ही सत्य अथवा ब्रह्म का दर्शन हो जाता है, अतः

[1] बृहदारण्यकोपनिषद्, २.४.१५

आत्मज्ञान के द्वारा सत्य पर से ढक्कन को हटाना आवश्यक है–

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।[2]

दर्शन प्राचीन काल से ही अत्यन्त प्रसिद्ध है। चतुर्विध विद्याओं में भी आन्वीक्षिकी के रूप में दर्शन को स्थान प्राप्त है। चूँकि प्राचीन काल में धन–सम्पत्ति एवं भौतिक भोग से प्राप्त क्षणिक सुख की अपेक्षा प्रत्येक मनुष्य पारमार्थिक सुख का आकांक्षी होता था। उनके जीवन का मुख्य रूप से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को प्राप्त करना ही प्रमुख लक्ष्य होता था। उनका प्रत्येक कर्म शास्त्रविहित होता था। उनके प्रत्येक कर्म में दर्शन की सम्पुटि विद्यमान होती थी। उनका प्रत्येक कर्म धर्माधर्म के विचार से ओतप्रोत होता था, इसलिए उनको मुक्ति प्राप्ति में ज्यादा साधनों का उपयोग नहीं करना होता था। प्रत्येक शास्त्र दर्शन को परम पुरुषार्थ मोक्ष के प्राप्ति का परम हेतु बताता है। यह दर्शन आगे चलकर आस्तिक एवं नास्तिक की दृष्टि से दो भागों में विभाजित हुआ। इस विभाजन का मुख्य आधार वेद एवं ईश्वर की मान्यता पर निर्भर है। जो दर्शन वेद एवं ईश्वर को प्रमाण मानते हैं वे आस्तिक दर्शन कहलाते हैं और जो वेद एवं ईश्वर को प्रमाण नहीं मानते हैं वे नास्तिक कहलाते हैं। मनु ने कहा भी है– **नास्तिको वेद निन्दकः**[3]। इस विषय में श्लोक भी प्रसिद्ध है–

अवैदिकप्रमाणानां सिद्धान्तानां प्रदर्शकाः।
चार्वाकाः षड्विधास्ते ख्याता लोकेषु नास्तिकाः।।
वेदप्रमाणकानीह प्रोचुर्ये दर्शनानि षट्।
न्यायवैशेषिकादीनि स्मृतास्ते आस्तिकाभिधाः।।[4]

नास्तिक दर्शन मुख्यतः चार्वाक, जैन एवं बौद्ध के भेद से तीन दर्शन हैं किन्तु बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय– वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक के साथ नास्तिक दर्शन भी कुल छः हो जाते हैं। आस्तिक दर्शन में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदान्त कुल छः दर्शन प्रसिद्ध हैं।

भारतीय ज्ञान परम्परा में योगदर्शन अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसके सभी सिद्धान्त प्रायशः साङ्ख्यदर्शन से मिलते हैं अतः यह साङ्ख्यदर्शन का समानतन्त्र भी कहा जाता है। विद्वानों ने साङ्ख्यदर्शन को निरीश्वर साङ्ख्य एवं योगदर्शन को सेश्वर साङ्ख्य कहा है। योगदर्शन में साङ्ख्य की अपेक्षा एक तत्त्व अधिक है। साङ्ख्यदर्शन में पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा एवं पञ्चमहाभूत कुल २५ तत्त्व होते हैं, वहीं योगदर्शन में इन सभी २५ तत्त्वों को यथारूप स्वीकार करते हुए २६वें तत्त्व के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया गया है। वह ईश्वर भी पुरुष ही है किन्तु वह सामान्य पुरुषों की अपेक्षा विशेष है। क्योंकि ईश्वर क्लेश, कर्म, कर्म के निश्चित फल एवं कर्मसंस्कार के सङ्ग्रहमात्र से अश्लिष्ट होता है। इस प्रकार साङ्ख्यदर्शन एवं योगदर्शन का समानतन्त्र स्थापित करते हुए आचार्यों ने योगसूत्र में अवर्णित विषयों को साङ्ख्यदर्शन से यथावत ग्रहण कर लिया है। जैसे– दुःखभेद, पञ्चविंशति तत्त्व, प्रमाण आदि। इस प्रकार दर्शन से युक्त मनुष्य द्वारा विवेक पूर्वक कर्म सम्पन्न किये जाने पर वह कर्मबन्धन से नहीं बंधता है किन्तु यदि वह

---

[2] ईशोपनिषद
[3] मनुस्मृति, २.११
[4] आर्यविद्यासुधाकर

दर्शनविहीन है तो मनुष्य का आवागमन होता रहता है यथा–

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न च बध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते।।[5]

12.2 योगदर्शन का परिचय

योगदर्शन का प्रारम्भ कब, कहाँ और कैसे हुआ? यह प्रामाणिक रूप में कह पाना अत्यन्त कठिन है किन्तु योगदर्शन का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। विश्व की प्रत्येक प्राचीन सभ्यताओं का अन्वेषणपूर्वक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सिन्धु घाटी सभ्यता एवं हड़प्पा–मोहनजोदड़ो सभ्यता के समय के कुछ ऐसे अवशेष मिले हैं जिनमें योगासन में स्थित कुछ लोगों के चित्र अथवा मूर्तियाँ हैं। विश्व के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी योग के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। योग को ऐसी क्रिया कहा है जिसके विना बड़े–बड़े यज्ञ भी सम्पादित नहीं किये जा सकते हैं– **यस्मादृते न सिद्धयति यज्ञोविपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।।**[6] अन्यत्र विवेकख्याति एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रदीप्त होने की बात कही गयी है– **स घा नो योगाभुपत् स राये स पुरं ध्याम्। गमद् वाजेभरा स नः।।**[7] इसी प्रकार यजुर्वेद में प्राप्त होता है कि जब कोई साधक योग की साधना करता है तो उसमें आने वाले विघ्नों के निवारण हेतु वह इन्द्र का आह्वान करता है– **योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्र मूर्तये।।**[8]

उपनिषद् में योग का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। कुछ उपनिषद् विशेषतः योग सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले हैं जिनमें कुछ प्रमुख उपनिषद् इसप्रकार हैं– अद्वयतारकोपनिषद्, अमृतनादोपनिषद्, अमृतबिन्दूपनिषद्, तेजोबिन्दूपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद्, पाशुपतब्रह्मोपनिषद्, ब्रह्मविद्योपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, हंसोपनिषद् इत्यादि। कठोपनिषद् में योग का स्वरूप बताते हुए ऋषि कहते हैं कि जब पञ्चज्ञानेन्द्रियां ज्ञान से प्रभावित होकर शान्त हो जाती हैं तो मन भी शान्त हो जाता है, मन के शान्त होने पर बुद्धि भी चेष्टाविहीन हो जाती है यही परम अवस्था है। यह इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि के स्थिर होने की अवस्था ही योग है, ऐसी अवस्था में योगी धीयुक्त हो जाता है। यथा–

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।[9]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्राप्त होता है कि योग का निरन्तर प्रतिष्ठान करने से योगी का शरीर अत्यन्त दृढ एवं निश्चल हो जाता है अतः उस शरीर में न ही रोग लगता है, न ही जरा उपस्थित होती है और न ही मृत्यु को प्राप्त होता है– **न तस्य रोगो न जरा**

---
[5] मनुस्मृति, ६.७४
[6] ऋ. १.१८.७
[7] ऋ. १.५.३
[8] यजु.११.१४
[9] कठोपनिषद्, २.३.१०–११

न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।।[10] अमृतनादोपनिषद् में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क एवं समाधि इन छः अङ्गों से युक्त साधना को योग कहते हैं– **प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा। तर्कश्चौव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते।।**[11] योगशिखोपनिषद् में योग के सन्दर्भ में प्राप्त होता है कि जो परस्पर द्वन्द्व की स्थिति में हैं जो परस्पर अलग–अलग हैं उनका संयोग होना योग कहलाता है जैसे कि अपान वायु एवं प्राण का ऐक्य होना, रजस और रेतस का एक होना, सूर्यस्वर एवं चन्द्रस्वर का परस्पर मिलकर एक होना, जीवात्मा एवं परमात्मा का संयोग होना योग कहलाता है यथा–

योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।।
एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।।[12]

इसी प्रकार योगोपनिषद् में कहते हैं कि योग के विना मोक्ष का परम साधन ज्ञान ध्रुव अर्थात् निश्चल नहीं हो पाता है तथा ज्ञान के विना योग भी मोक्ष को देने वाला नहीं हो पाता है इसलिए योग एवं ज्ञान दोनों का साथ–साथ होना आवश्यक है। यथा–

योगहीनं तथा ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।।[13]

भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निःसृत श्रीमद्भगवद्गीता योगशास्त्र का ग्रन्थ है। गीता में अनेकों स्थान पर योग के विषय एवं सिद्धान्तों का विवेचन प्राप्त होता है। गीता में कुल १८ अध्याय हैं प्रत्येक अध्याय के नाम में योग शब्द संयुक्त हुआ है। गीता के सम्पूर्ण प्रतिपाद्य को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जाता है– ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता योग का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। गीता में अनेक स्थानों पर भिन्न–भिन्न अर्थों में योग को परिभाषित किया गया है यथा सिद्धि एवं असिद्धि में समत्व की भावना रखना भी योग कहलाता है– **समत्वं योग उच्यते**।[14] कर्मयोग के सन्दर्भ में फलासक्ति का त्याग करते हुए कर्मों में कुशलता को योग कहा गया है– **योगः कर्मसु कौशलम्**।[15] गीता में योग एवं योगी की महत्ता बताते हुए योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि योगी तपस्वी से अधिक श्रेष्ठ होता है, योगी ज्ञानी से भी अधिक श्रेष्ठ होता है, शास्त्रविहीत कर्मों का सम्पादन करने वालों से भी योगी अधिक श्रेष्ठ होता है इसलिए हे अर्जुन ! तुम वही योगी बनो– **तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।**[16] गीता में योग के स्वरूप एवं प्रयोजन को बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिसका आहार एवं विहार यथायोग्य है, जिसके कर्म उसकी चेष्टाओं के अनुकूल हैं, जो यथायोग्य सोता और जागता है उसी का दुःखों को नष्ट करने वाला योग सिद्ध होता है। यथा–

---

[10] श्वेता. २.१२
[11] अमृ. ६
[12] योगशिखोपनिषद्, १.६८–६६
[13] योगतत्त्वोपनिषद्, १४–१५
[14] गीता, २.४८
[15] गीता, २.५०
[16] गीता, ६.४६

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।[17]

इसी प्रकार पौराणिक ग्रन्थों में योग का अनेकत्र विवेचन प्राप्त होता है। अग्निपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण आदि पुराणों में भी योग के अनेक सिद्धान्तों का वर्णन दर्शनलभ्य है। भागवत महापुराण में भी अनेक कथानकों के अवसर पर योग का प्रसङ्ग आया है। धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ याज्ञवल्क्य स्मृति में याज्ञवल्क्य ऋषि योग का लक्षण करते हुए कहते हैं– **संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः**[18] अर्थात् जीवात्मा एवं परमात्मा के परस्पर संयोग को योग कहते हैं। आशय यह है कि जो जीव है, सांसारिक भोगों में संलिप्त है, अज्ञान से युक्त है किन्तु निरन्तर साधना अभ्यास करने से उसके अज्ञान नष्ट हो जाते हैं और वह परमात्मा में विलीन हो जाता है वह परम पद को प्राप्त कर लेता है यही जीवात्मा एवं परमात्मा का संयोग है। साहित्य ग्रन्थों में भी कालिदासादि कवियों ने यथाप्रसङ्ग योग का विवेचन किया है जैसे कि नायक की याद में नायिका का चित्त स्थिर सा हो जाता है जैसे उसका चित्त नायक में विलीन हो गया है एक हो गया है। इस प्रकार योग का अनेकों शास्त्रों में विवेचन प्राप्त होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि योग परम्परा अत्यन्त समृद्ध एवं प्राचीन है।

प्रारम्भ में योग का कोई स्वतन्त्र शास्त्र अथवा ग्रन्थ नहीं था। वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र, साहित्यादि शास्त्रों में योग का यत्र–तत्र उल्लेख प्राप्त होता था। योगसम्बद्ध इन सभी सिद्धान्तों का सूत्रपात करके एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में संयोजन करने वाले महर्षि पतञ्जलि हैं। पतञ्जलि को शेषावतार भी कहा जाता है। पतञ्जलि ने केवल सूत्रपात किया है वस्तुतः योग का प्रणयन अथवा वाचन तो किसी अन्य ऋषि अथवा ईश्वर ने ही किया है। इस विषय में भी अनेक शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि योग का प्रणयन हिरण्यगर्भ ने किया है। यथा– **हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः**।[19] जब हिरण्यगर्भ के विषय में प्रश्न प्रकट होता है कि यह हिरण्यगर्भ कौन है? तो ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में बताया गया है कि हिरण्यगर्भ साक्षात् परमेश्वर है। यथा–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[20]

हिरण्यगर्भ योग के प्रवर्तक हैं किन्तु विभिन्न शास्त्रों में सन्दर्भित योग के सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध कर समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद एवं कैवल्यपाद नाम चार पादों में १६५ सूत्रों की रचना कर महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन का सूत्रग्रन्थ बना दिया। 'अथ योगानुशासनम्' इस प्रथम सूत्र से महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र ग्रन्थ का अनुशासन किया है। विद्वानों के द्वारा पतञ्जलि का समय २०० ई.पू. निश्चित किया गया है। किन्तु संस्कृत वाङ्मय में पतञ्जलि नाम से अनेक आचार्यों का उल्लेख मिलता है जिसका विवेचन आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास' नामक ग्रन्थ के नवम खण्ड में किया है। यह अंश जिज्ञासुओं के ज्ञान के लिए यहाँ कृतज्ञतापूर्वक उद्धृत किया जा रहा है –

---

[17] गीता ६.१७
[18] याज्ञवल्क्य स्मृति, १.६
[19] महा.भा. १२.३४६.६५
[20] ऋ.१०.१२१.१

१. योगसूत्र के रचयिता पतञ्जलि।

२. पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य की रचना करने वाले पतञ्जलि।

३. निदान सूत्र या चरक संहिता के लेखक पतञ्जलि।

४. परमार्थसार के रचयिता पतञ्जलि।

५. युक्तिदीपिका, व्यासभाष्य आदि ग्रन्थों में उल्लिखित सांख्याचार्य के रूप में पतञ्जलि।

६. आयुर्वेदाचार्य पतञ्जलि।

७. कोशकार पतञ्जलि (विश्वप्रकाशकोष १.१६.१६ । महाभाष्यप्रदीप ४.२.६२)

पतञ्जलि वासुकि शेषनाग के अवतार माने जाते हैं (प्रामाण्यं वासुकेर्व्याढेव्युत्पत्तिर्धनपालतः। प्रपञ्चश्च वाचस्पतिप्रभृतेरिह लक्ष्यताम्।। हेमचन्द्र कृत अभिधान चिन्तामणि, श्लोक ३)। कुछ आचार्यों ने पतञ्जलि का समय बुद्ध से पहले लगभग ७०० ई.पू. के आसपास निश्चित किया है। डॉ. राधाकृष्णन् ने योगसूत्र का समय ३०० ईस्वी स्वीकार किया है।

पतञ्जलि ने केवल योगसूत्र का प्रणयन नहीं किया अपितु योग की सम्पूर्ण परम्परा का परिष्कार किया। महर्षि पतञ्जलि केवल योगविद्या के ही संवाहक नहीं रहे अपितु इन्होंने व्याकरण एवं आयुर्वेद में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। पाणिनि विरचित व्याकरण के सूत्रग्रन्थ अष्टाध्यायी पर महाभाष्य का प्रणयन किया। इसी प्रकार आयुर्वेद में चरकसंहिता का लेखन किया, यह ग्रन्थ भी आयुर्वेद में आधार ग्रन्थ है। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने चित्त अथवा बुद्धि के परिष्कार हेतु योगसूत्र का प्रणयन किया। भाषा के परिष्कार हेतु पदशास्त्र अर्थात् महाभाष्य का लेखन किया तथा शरीर के परिष्कार हेतु आयुर्वेदशास्त्र का प्रणयन किया। संस्कृत साहित्य में एक श्लोक भी प्रसिद्ध है जिसमें पतञ्जलि द्वारा योग–व्याकरण–आयुर्वेद शास्त्रों का प्रणयन किया था–

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।

महर्षि पतञ्जलि द्वारा विरचित योगसूत्र पर अनेक विद्वानों ने भाष्य, टीकादि रूप में शास्त्रों का प्रणयन किया है। व्यासभाष्य नामक सर्वप्रथम एवं सर्वप्राचीन भाष्य प्राप्त होता है। तत्त्ववैशारदी, योगवार्त्तिक, भोजवृत्ति, भावप्रदीपिका, मणिप्रभा, भास्वती, भाष्यविवरण, योगचन्द्रिका, योगसूत्रवृत्ति, योगसूत्रविवृत्ति, योगप्रदीपिका, पातञ्जलरहस्य, किरणावली आदि भाष्य, टीका, उपटीका ग्रन्थ लिखे गये। योगसूत्र के प्रतिपाद्य अत्यन्त विस्तृत है। प्रथम समाधि पाद में कुल ५१ सूत्र हैं जहाँ सर्वप्रथम योगशास्त्र के प्रारम्भ का अधिकारवचन निरूपित किया गया है। चित्तवृत्तियों के निरोध को योग का लक्षण बताते हुए चित्तवृत्तियों के भेद एवं स्वरूप का प्रतिपादन किया है। इन वृत्तियों के निरोध के हेतु अभ्यास एवं वैराग्य का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात का वर्णन प्राप्त होता है। चूंकि ईश्वर भी समाधिलाभ में सहायक है अतः उसका भी विवेचन प्राप्त होता है। आगे योगान्तराय का विश्लेषण हुआ है इन्हें चित्त के विक्षेप अथवा विघ्न भी कहते हैं जो हैं– व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व एवं अनवस्थितत्व। पुनः इनके दूर करने के उपाय मैत्री, करुणा, मुदिता आदि का भी उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् ऋतम्भरा प्रज्ञादि का विवेचन किया गया है। प्रथम पाद में उत्तम साधक के लिए

योगसिद्धि के साधन बताये गये हैं। द्वितीय साधन पाद में कुल ५५ सूत्र निरूपित हैं जिसमें सर्वप्रथम **तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः**[21] सूत्र से क्रियायोग का वर्णन प्राप्त होता है। इस पाद में मध्यम साधक के लिए योगसिद्धि के उपाय बताये गये हैं। इसी पाद में क्लेश के पञ्चनिकायों अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश का भी उल्लेख मिलता है। इसी पाद में हेय, हेयहेतु, हान एवं हानोपाय चतुर्व्यूहवाद का भी विवेचन प्राप्त होता है। चतुर्व्यूहवाद सिद्धान्त द्वारा जीव के दुःख से बद्ध होने के हेतु एवं दुःखनिवृत्ति के उपायों को सविस्तार बताया गया है। सप्तधा प्रान्तभूमि प्रज्ञा का भी इसी पाद में विश्लेषण प्राप्त होता है। पुनः अष्टाङ्गयोग के प्रयोजन एवं उसके स्वरूप का निरूपण किया गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार पाँच बहिरङ्ग साधनों का उल्लेख द्वितीय पाद में ही प्राप्त होता है। तृतीय विभूति पाद में कुल ५५ सूत्रों में भिन्न–भिन्न आलम्बनों में योग के सिद्ध होने पर भिन्न–भिन्न विभूतियाँ अथवा शक्तियाँ प्राप्त होती हैं इसका उल्लेख किया गया है तथा पाद के अन्त में **सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति**[22] सूत्र के द्वारा कैवल्यप्राप्ति के हेतु बुद्धि एवं आत्मा के शुद्ध एवं साम्य का निरूपण किया है। चतुर्थ कैवल्य पाद में ३४ सूत्र हैं। इस पाद में सर्वप्रथम बताया गया है कि विभिन्न आलम्बनों में समाधि के अतिरिक्त भी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं जैसे– जन्म, औषधि, मन्त्र, तपादि से भी विभूतियाँ प्राप्त होती हैं जिसका भाष्यादि में सोदाहरण उल्लेख प्राप्त होता है– **जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः**।[23] तत्पश्चात् कर्म, कर्म के संस्कार, उनके नष्ट करने के उपाय आदि का विवेचन करते हुए अन्त में पुनर्जन्म के बन्धन से रहित होकर जीव परमावस्था को प्राप्त हो जाता है, यही कैवल्य है।

महर्षि पतञ्जलि ने जिस विद्या का संस्करण किया वह विद्या अत्यन्त प्राचीन काल से इस लोक में विद्यमान थी, जिसका उल्लेख श्रीमद्भगद्गीता के चतुर्थ अध्याय में प्राप्त हो जाता है यथा– **इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतपः।। स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।**[24] भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे पार्थ ! इस अविनाशी विद्या योग को मैंने सृष्टि के प्रारम्भ में ही सूर्य से कहा था। एक प्रश्न यहाँ उठता है कि योग को अव्यय क्यों कहा गया है? क्योंकि योग वेदमूलक है वेद अव्यय है अतः योग भी अव्यय ही होगा तथा क्योंकि योग से नित्य परमानन्द मोक्ष की प्राप्ति होती है अतः जिससे नित्य फल की प्राप्ति होती है वह भी नित्य ही होगा अतः योग अविनाशी एवं अव्यय विद्या है। भगवान् श्रीकृष्ण ने सूर्य को ही योग विद्या का उपदेश क्यों दिया? ऐसा भी प्रश्न उठ सकता है इसका उत्तर इस प्रकार है कि क्योंकि भगवान् सूर्य सम्पूर्ण जगत् का अपनी औषधमय रश्मियों से जीवन संचार करते हैं, रोगों का निवारण करते हैं मनुष्य, पशु, पक्षियों, पेड़, पौधों एवं समस्त जगत् में ही ऊर्जा का संचार करते हैं इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम सूर्य को योग का सन्देह निवारण पूर्वक उपदेश दिया। पुनः भगवान् विवस्वान् (सूर्य) ने वैवस्वत मनु के लिए योग विद्या का उपदेश किया। फिर वैवस्वत मनु के द्वारा इक्ष्वाकु के लिए इस योग विद्या का व्याख्यान किया गया। इस प्रकार इस योग विद्या का विस्तार श्रुति परम्परा से होता रहा इसीलिए अनेकों ऋषि मुनियों ने इस विद्या को जाना तथा इसका विस्तार किया।

---

21 योगसूत्र, २.१
22 योगसूत्र, ३.५५
23 योगसूत्र, ४.१
24 गीता, ४.१–३

किन्तु अत्यन्त दीर्घ समय से इस विद्या का श्रुति परम्परा से ही विस्तार होने के कारण इस योग विद्या में क्षीणता आ गयी है, इसके अनेक सिद्धान्त धीरे – धीरे नष्ट होते चले गये हैं। अब इस अत्यन्त पुरातन योग विद्या को तुम्हारे लिए उपदेश कर रहा हूँ।

भारतीय परम्परा में किसी भी विद्या को किसी भी मनुष्य के सामने प्रस्तुत करने की परम्परा नहीं रही है क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी भी विद्या का अधिकारी नहीं हो सकता है जैसे कि सदानन्द विरचित वेदान्तसार वेदान्त के अधिकारी का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जिसने वेद वेदांगों का परम्परा से अध्ययन कर लिया हो तथा समस्त वेदों के यथार्थ अभिप्राय को जान लिया हो, इसी के साथ जिसने इस जन्म एवं पूर्वजन्म में काम्य कर्मों को करते हुए एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग करते हुए नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासना कर्मों का अनुष्ठान करने से अपने चित्त को सम्पूर्ण पापों से मुक्त, अत्यन्त निर्मल बना लिया हो – **अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।**[25] इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी अत्यन्त पुरातन योग विद्या का उपदेश करने के लिए अपने मित्र एवं भक्त को ही उपयुक्त अधिकारी मानकर इस रहस्यमयी उत्तमा विद्या का उपदेश करते हैं।

पतञ्जलि ने यौगिक सिद्धान्तों को सूत्रों के माध्यम से अत्यन्त सरलता एवं सुकरता पूर्वक उपस्थापित किया है। महर्षि के सूत्रग्रन्थ का प्रथम सूत्र **'अथ योगानुशासनम्'** ही पतञ्जलि से पूर्व के योग परम्परा का निर्देशन करता है। उपनिषदों में प्राप्त योग सम्बन्धी वर्णन योग के माहात्म्य को प्रकट करता है। कठोपनिषद् में प्राप्त होता है कि अध्यात्मयोग द्वारा उस देव का बोध धीर पुरुष हर्ष–शोकादि दोषों का परित्याग कर देता है, यथा– **अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।**[26] इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि जिसने बारम्बार योग का अभ्यास करके अपने शरीर को अत्यन्त तेजशील बना लिया है उसे न ही कोई रोग होता है और न ही मृत्यु को प्राप्त होता है– **न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।**[27] कठोपनिषद् में अन्यत्र प्राप्त होता है कि यह योग परमगति का परम साधन है। जब पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ आत्मा में स्थिर हो जाती हैं एवं बुद्धि में किसी प्रकार का विकार अथवा क्रिया नहीं होती है इस अवस्था को परमागति कहते हैं।

भारतीय ज्ञान परम्परा में दर्शन परम पुरुषार्थ मोक्ष के प्राप्ति का परम साधन है। **दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्** इस व्युत्पत्ति से जिसके द्वारा उस परमतत्त्व को जाना जाता है वह दर्शन है। दर्शन की अनेक शृंखलाओं में योगदर्शन अत्यन्त प्रसिद्ध है। योगदर्शन अत्यन्त सरलतापूर्वक प्रत्येक व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन में किसी प्रकार का अवरोध किये विना अर्थात् सामान्य जीवन करते हुए भी त्रिविध दुःखों से मुक्ति प्रदानकर मोक्ष प्राप्त कराता है। एक स्वस्थ चित्त एवं स्वस्थ शरीर के लिए योग का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। योग का ज्ञान ही नहीं अपितु उसका व्यवहार में प्रयोग होना भी जरूरी है। हेय–हेयहेतु–हान–हानोपाय इस चतुर्विध साधनों द्वारा मनुष्य को अत्यन्त विह्वल करने वाले दुःखों का नाश किया जा सकता है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने शास्त्र में इसको चतुर्व्यूह कहा है अर्थात् जिसके द्वारा दुःखों का समूलतः नाश किया जा सके। इसी के साथ अनेक ऐसे सूत्रों का प्रणयन किया जो साक्षात् व्यक्ति के

---

[25] सदानन्द विरचित वेदान्तसार

[26] कठोपनिषद्, १.२.१२

[27] श्वेताश्वतरोपनिषद्, २.१२

व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध थे। सम्प्रति काल में योगशास्त्र अत्यन्त प्रासङ्गिक एवं उपयोगी विद्या है जिसका अभ्यास आज सम्पूर्ण विश्व कर रहा है।

यह सर्वविदित है कि चराचर जगत् में प्रत्येक मनुष्य सांसारिक दुःखों से मुक्त होना चाहता है। क्योंकि निश्चल, निर्मल पुरुष में त्रिगुणात्मक चित्त अथवा अन्तःकरण का प्रतिबिम्बन होता है इसलिए जगत् के सभी विषय उस पुरुष के लिए भी अत्यन्त प्रिय प्रतीत होने लगते हैं। वस्तुतः उन विषयों का उस पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं होता है किन्तु त्रिगुणात्मक अन्तःकरण के प्रभाव से पुरुष ही मानो उन विषयों का भोक्ता हो। भौतिक भोगोपभोग में फंसा हुआ पुरुष इस बन्धन से मुक्त होना चाहता है। पुरुष का इन बन्धनों से मुक्त होना ही परम पुरुषार्थ है। यह प्रक्रिया भौतिक सोच रखने वाले लोगों के लिए अत्यन्त कठिन है। अध्यात्म का चिन्तन करने वाले साधक निरन्तर अपने चित्त को तपस्या के द्वारा निर्मल एवं निश्चल बनाने का प्रयत्न करते रहते हैं। किन्तु भौतिक लोगों के लिए भौतिक विषयों का त्याग करना सरल नहीं होता है। ये जो आध्यात्मिक एवं भौतिक सोच रखने वाले लोगों में भेद है इसी को सरल तरीके से नष्ट करने में योगदर्शन सफल हुआ है। योगदर्शन का अष्टांग योग विश्व में अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ है। अष्टांग योग एक ऐसी प्रक्रिया है जो भौतिक विषयों में संलिप्त लोगों को अत्यन्त सरल तरीके से अध्यात्म को अग्रसर कर देती है। चित्तशुद्धि के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध यम एवं नियमों का निरन्तर अभ्यास करने से चित्त के रजोगुण एवं तमोगुण में ह्रास होता है। क्योंकि चित्त के रजोगुण एवं तमोगुण को ही सर्वप्रथम निष्क्रिय करना होता है इसलिए यम के पाँच अवयव – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह से तथा नियम के पाँच अवयव – शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान से चित्त को राजसिक एवं तामसिक विषयों दूर किया जाता है। जैसे – जैसे चित्त राजसिक एवं तामसिक विषयों से दूर होता चला जाता है वैसे – वैसे आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि के द्वारा चित्त को निश्चल एवं निर्विषयी बनाने का प्रयत्न किया जाता है। क्योंकि साधक ने सर्वप्रथम चित्त के सभी मलों का यम एवं नियम से नाश कर दिया है इसलिए आसन, प्राणायाम के द्वारा चित्त को नियन्त्रित करना अत्यन्त सरल हो जाता है। इसलिए साधक बाकी के अन्य सभी साधनों को सरलता से सिद्ध कर लेता है। भौतिक विषयों में संलिप्त चित्त को अध्यात्म की ओर मोड़ना इतना सरल नहीं होता है। एक पल के लिए, एक दिन के लिए, एक महिने के लिए, एक वर्ष के लिए वह अपने चित्त को भौतिक विषयों से दूर तो कर लेता है किन्तु दीर्घ काल तक रोके रखना अत्यन्त कठिन होता है अतः वह पुनः उन्हीं विषयों के उपभोग में संलिप्त हो जाता है। जैसे कि एक व्यक्ति अहिंसा का व्रत लेता है किन्तु वह उसका पूरा – पूरा पालन करने में स्वयं को असमर्थ महसूस करता है अतः वह देश एवं काल के अनुसार व्रत का पालन करता है यथा काशी, प्रयागराज, मन्दिर, आश्रम आदि पवित्र स्थानों पर अहिंसा नहीं करता है किन्तु अन्यत्र स्थानों पर वह अहिंसा कर लेता है, मंगलवार, शनिवार आदि व्रत वाले दिनों में अहिंसा नहीं करता है किन्तु अन्य दिनों में वह अहिंसा कर लेता है इस प्रकार से वह धीरे – धीरे अपने चित्त को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता रहता है। जब वह अपने चित्त को पूरा – पूरा नियन्त्रित कर लेता है अर्थात् सभी देशों सभी कालों में वह व्रत का अहिंसा का पालन कर लेता है तो उसका वह व्रत महाव्रत कहलाता है। इसी प्रकार से वह सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान व्रतों का नियमपूर्वक पालन कर लेता है तो उसका चित्त निर्मल हो जाता है।

इस प्रकार शुद्ध, निर्मल, निश्चल चित्त में किसी प्रकार के बाह्य विषयों का संश्लेष न होने पर पूर्व के कर्म संस्कारों का ही भोग होता है तथा जैसे – जैसे चित्त सात्त्विक

होता जाता है ज्ञान का प्रवाह बढ़ता जाता है वैसे वैसे पुरुष मोक्ष की अग्रसर होता चला जाता है। साधक द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि के साथ चतुर्विध समापत्ति पर विजय प्राप्त कर लिया जाता है जिससे ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है ऋतम्भरा प्रज्ञा से पूर्व के सभी कर्म संस्कार नष्ट हो जाती हैं तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा से बनने वाले संस्कार प्रज्ञा को अधिक उत्कृष्ट करते हुए असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में ऋतम्भरा प्रज्ञा के भी संस्कार नष्ट कर दिये जाते हैं। यह असम्प्रज्ञात समाधि ही निर्बीज समाधि भी कही जाती है तथा यही अवस्था परमानन्द मोक्ष की अवस्था है। जिसकी प्राप्ति के पश्चात् किसी प्रकार का दुःख नहीं रह जाता है। पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। और पुरुष का जो वास्तविक स्वरूप है वह निश्चल, निर्मल, शुद्ध, बुद्ध वाला है अतः उसमें किसी प्रकार के भोग की भावना भी नहीं रह जाती है। यही अवस्था प्रत्येक पुरुष के लिए अभिप्रेत है तथा प्रत्येक पुरुष इसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में योग की अनेक शाखायें व्याख्यायित की गयी हैं। जहाँ मुख्यतः मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग का उल्लेख मिलता है वहीं ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, जपयोग, शब्दयोग, प्राणयोग, हंसयोग, तन्त्रयोग, स्वरयोग, शिवयोग, भृगुयोग, ध्यानयोग, पाशुपत योग, समाधि योग, प्रेमयोग, ब्रह्मयोग, अनासक्ति योग, पुरुषोत्तम योग, तारकयोग, नामकीर्तन योग, पुरुषयोग, स्पर्शयोग, अस्पर्शयोग, भावयोग, अभावयोग, क्रियायोग, बुद्धियोग, विज्ञानयोग, पतिव्रतयोग, गृहस्थ योग, स्वप्नयोग, सुषुप्ति योग, साङ्ख्ययोग, कुण्डलिनी योग, चित्तयोग, इच्छायोग, ज्ञानेन्दिय योग, कर्मेन्द्रिय योग, मानस योग, अहङ्कार योग, पूर्णयोग, कबीरपंथी योग, जैनमत योग, बौद्धमत योग, समर्पण योग आदि का भी अन्यान्य शास्त्रों में उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त भी अनेक योगों के नाम शास्त्रीय ग्रन्थों अथवा लेखों में देखने को मिलते हैं। सभी योगों का स्वरूप भिन्न–भिन्न है, सभी की क्रियायें भी भिन्न–भिन्न हैं लेकिन सभी का ध्येय एक है परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति।

12.3 सारांश

योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सरल उपायपूर्वक भौतिक दुःखों से मुक्ति पाने का परम साधन है। योग द्वारा विवेचित प्रत्येक साधन अथवा उपाय अत्यन्त व्यावहारिक है जिसके द्वारा एक सामान्य व्यक्ति भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। योगदर्शन का वेदादि प्राचीन शास्त्रों में विवेचन प्राप्त होने का आशय यह है कि यह विद्या अत्यन्त प्राचीन काल से ही लोक में विद्यमान थी जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण **'इमं विवस्वते योगं'** श्लोक से इसका द्योतन भी करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में योग को अनेक रूपों में विवेचित किया गया है जहाँ सर्वप्रथम प्रत्येक १८ अध्यायों का नाम ही अलग–अलग योग से सम्बद्ध है वहीं योग को कदाचित् कर्म में कुशलता से जोड़ा गया है तो कहीं दुःखनाश के हेतु के रूप में। योग सामान्य जनमानस के व्यवहार से सम्बद्ध है। प्राचीन काल का सामाजिक परिवेश ही इस प्रकार का होता था कि उनके प्रत्येक क्रियाकलाप में योग की भूमिका होती ही थी। महर्षि पतञ्जलि शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम योग के आधिकारिक शास्त्र के प्रारम्भ की सूचना देते हैं तत्पश्चात् योग का स्वरूप बताये हैं– **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**। योग का परम लक्ष्य पुरुष का स्वस्वरूप में स्थित होना है। किन्तु जब पुरुष का चित्त में प्रतिबिम्बन होता है तो वह पुरुष भी चित्तानुकूल सुख–दुःख का अनुभव करता है। पुनः चित्तवृत्ति के भेद बताये गये हैं, चित्तवृत्तियों का व्यापार जैसा होता है चित्त भी तद्वत् विषयों के ज्ञान को ग्रहण करता है तथा पुरुष का चित्त में प्रतिबिम्बन होने से पुरुष भी तद्वत् विषयों का अनुभव करता है, किन्तु

जैसा कि योग का लक्षण किया गया है; के अनुसार इन चित्तवृत्तियों का निरोध करना है अतः इसका भी उपाय बताया गया है। अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा इन सभी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है, चित्तवृत्तियों का निरोध होते ही पुरुष अपने यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए अग्रसर होता है और वह अन्त में कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। इसी प्रकार से योगसूत्र के चारों पादों में चित्तवृत्ति के निरोध के उपाय अलग–अलग तरीके से भिन्न–भिन्न साधकों के लिये बताये गये हैं तथा अन्ततः योग का जो प्रतिफल कैवल्य है उसका विवेचन करते हुए शास्त्र का समापन हो गया है।

12.4 शब्दावली

योग	एक प्राचीन साधना पद्धति
अनुशासन	नियमबद्ध आचरण
चित्त	बुद्धि, अहंकार एवं मन का समाहार रूप
चित्तवृत्ति	चित्त का व्यापार (चित्त द्वारा गृहीत किये गये विषयों का ज्ञान)
दर्शन	त्रिविध दुःखों के अत्यन्त नाश हेतु पथ प्रदर्शित कराने वाला शास्त्र
दुःख	इच्छा के विपरीत विषय का अनुभव
दुःखनिवृत्ति	दुःख के हेतुओं का नाश
पुरुषार्थ	धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष
मोक्ष	मृत्युलोक के आवागमन से मुक्ति, परमात्मा का सान्निध्य, परमपद की प्राप्ति, परमानन्द का अनुभव

12.5 बोध/अभ्यास प्रश्न

१. योगदर्शन का ऐतिहासिक वर्णन करें।

२. योग के वैदिक सन्दर्भों की समीक्षा करें।

३. भगवद्गीता के अनुसार योग की विवेचना करें।

४. योग की व्यावहारिकता स्पष्ट करें।

५. योग का मुख्य प्रयोजन प्रतिपादित करें।

12.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. पतञ्जल योगसूत्र, व्याख्याकार, श्रीनन्दलाल दशोरा, हरिद्वार, रणधीर प्रकाशन, १९९७।

२. योगदर्शन (प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या), व्याख्याकार, स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी, मुम्बई, श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट।

३. योगदर्शन, व्याख्याकार, पं. राजाराम प्रोफेसर, लाहौर, साहित्य प्रचारक मण्डल, १९२२।

४. पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार, डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

५. पातञ्जल योगदर्शनम्, व्याख्याकार, श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, अजमेर, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस १९३२।

६. पातञ्जल योगसूत्र (बंगाली बाबा व्याख्या), हिन्दी अनुवादक, कुमारी वृजरानी देवी, पूना, एन.आर.भार्गव, १६४८।

७. योगदर्शन समीक्षा, लेखक— पं. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, १६६७।

८. योगतत्त्वाङ्क, कल्याण विशेषाङ्क, गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष १६६।

६. भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व, लेखक— एम. हिरियन्ना, अनु. प्रकाश नारायण शर्मा, सेन्ट्रल बुक डिपो, १६५४।

१०. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, लेखक— प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १६७४।

११. भारतीय दर्शन, लेखक— आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, चौखम्भा ओरियन्टालिया, १६७६।

१२. भारतीय दर्शन, लेखक— वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, २००६।

१३. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, लेखक— चन्द्रधर शर्मा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, २०१०।

इकाई 13 योग का लक्षण एवं स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

- पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार योग का स्वरूप जान सकेंगे।
- विभिन्न शास्त्रों के अनुसार योग का स्वरूप समझ सकेंगे।
- योग के व्युत्पत्तिपरक एवं निष्पत्तिपरक अर्थ को समझ सकेंगे।
- योग के लक्षण को विवेचनापूर्वक जान सकेंगे।
- योग के प्रयोजन एवं व्यावहारिक उपादेयता को समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

सचराचर लोक में सुख एवं दुःख की अनुभूति प्रत्येक जीव को होती है। कर्माशय की तीव्रता के कारण किसी को तीव्र दुःखानुभूति होती है तो किसी को मन्द दुःख की अनुभूति होती है। दुःख को प्रतिकूल अनुभूति कहा गया है– **प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्**।[1] जब इच्छाओं के विपरीत किसी वस्तु का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है अथवा किसी अत्यन्त प्रिय वस्तु का विच्छेद हो जाता है तो दुःख होता है। सांख्यदर्शन के अनुसार दुःख भी तीन प्रकार का होता है– आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक। आध्यात्मिक दुःख शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि के भेद से दो प्रकार का होता है। जब दुःख का कारण शरीर के आवश्यक तत्त्व वात, पित्त एवं कफ आदि का वैषम्य हो तो शारीरिक आध्यात्मिक दुःख होता है– **वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तं शारीरं दुःखम्**[2] तथा जब काम, क्रोध, लोभ, मोहादि के कारण उत्पन्न होने वाला दुःख मानसिक आध्यात्मिक दुःख होता है– **कामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याविषादविषयविशेषादर्शननिबन्धनं मानसं दुःखम्**।[3] पशु, पक्षी, सर्प, कीट, मनुष्यादि जंगम एवं वृक्ष, पत्थर, लोहा, कांटा आदि स्थावर भौतिक पदार्थों से घात होने पर दुःख उत्पन्न होता है तो वह आधिभौतिक दुःख होता है– **मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम् आधिभौतिकं दुःखम्**।[4] जैसे कि किसी मनुष्य पर पशु ने प्रहार किया हो, सर्प–कीटादि द्वारा डंक द्वारा विषप्रवाह किया गया हो अथवा वृक्ष, लोहा से क्षत होने पर पीड़ा होती है वह

---

[1] तर्कसंग्रह

[2] सांख्यतत्त्वकौमुदी, १

[3] वहीं

[4] वहीं

आधिभौतिक दुःख ही है। यक्ष, राक्षस, ग्रहादि के आवेश से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिदैविक होता है– **यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम् आधिदैविकं दुःखम्**।[5] जैसे कि पूजा–व्रतादि न करने पर यक्ष क्रोधित हो जाते हैं, राक्षस अपनी वृत्ति के अनुसार सामान्य जनमानस को पीड़ित करते हैं, ग्रहादि के यथास्थान न होने पर अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं यही आधिदैविक दुःख है। वस्तुतः इस लोक में दुःख समाप्त करने के अनेक भौतिक उपाय अनेक शास्त्रों में बताये गये हैं अनेक लोगों द्वारा उनका प्रयोग किया भी जाता है तथा दुःख समाप्त भी हो जाता है पुनः किसी प्रत्यक्ष उपाय के स्थित होने पर अन्य अप्रत्यक्ष उपाय की कल्पना क्यों करना?[6] भौतिक उपायों से यत्किञ्चित दुःख नष्ट तो हो जाते हैं किन्तु वे उपाय कुछ समय के लिए ही दुःख को दूर कर पाते हैं हमेशा के लिए। जैसे कि यदि किसी को तेज बुखार आ रहा है तो वह दवा खाकर उस दुःख से मुक्त तो हो जाता है किन्तु आगे उसे पुनः बुखार न हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि लोक में देखा गया है कि जिस व्यक्ति का जो दुःख भौतिक उपायों द्वारा समाप्त किया गया है वह आगे भी उत्पन्न हुआ है। इसीलिए दर्शन इन तीनों प्रकार के दुःखों से नित्यरूप से मुक्ति की बात करता है। कोई मूढ़मति भी दुःखों से दूर भागता है, पशु–पक्षी भी दुःख नहीं चाहते हैं इसलिए यह दुःख किसी को भी अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि प्रत्येक जीव की प्रवृत्ति सुख के लिए होती है– **दुखादुद्विजते लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम्**।[7] शास्त्रों में कहा गया है कि इन तीनों दुःखों का आत्यन्तिक अर्थात् हमेशा के लिए नष्ट हो जाना ही परम पुरुषार्थ है– **अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः**।[8] आशय यह है कि त्रिविध दुःखों के आत्यन्तिक नाश से जीव परमानन्द मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में दर्शन ही एकमात्र ऐसा साधन है जिससे दुःख को आत्यन्तिक रूप से समाप्त किया जा सकता है। दर्शन के अनेक सम्प्रदायों में योग दर्शन लोक व्यवहार के अत्यन्त सन्निकट है। योग प्राचीन काल से ही मनुष्य के व्यवहार में रहा है। किसी भी छोटे–बड़े कार्यों में शरीर एवं श्वास में यत्किञ्चित योग के अनुसार आसन–प्राणायाम हो ही जाता है। योग दर्शन त्रिविध दुःखों के नाश में अत्यन्त प्रासंगिक है। योग दर्शन सर्वप्रथम सैद्धान्तिक रूप से समस्त तत्त्वों को जानने के बाद आध्यात्मिक रूप से व्यवहार करने हेतु प्रेरित करता है। योग की प्राचीनता एवं व्यावहारिकता वेदों में प्रतिपादित है। जब एक मन्त्र में स्पष्टतः कहा जाता है कि योग के विना कोई भी कर्म सिद्ध नहीं हो सकता है– **यस्मादृते न सिद्ध्यति यज्ञोविपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।।**[9] इस प्रकार योग का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में ही दर्शनलभ्य है। अनेक शास्त्रों में योग को अनेक लक्षणों एवं परिभाषाओं से परिभाषित किया गया है। जहाँ योग को उसकी निष्पत्ति के अनुसार समाधि, संयम एवं संयोग तीनों अर्थों में गृहीत किया गया है।

13.2 योग का लक्षण एवं स्वरूप

संसार में प्रत्येक मनुष्य अनन्त ज्ञान एवं शक्ति से युक्त है। आलम्बन के उपस्थित होने पर उसके ज्ञान या शक्ति का दर्शन होता है। वाल्मीकि रामायण के हनुमान जी में

---

[5] वही

[6] अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्।। द्रष्टव्य– सांख्यतत्त्वकौमुदी

[7] महाभारत, १२.१३६.६१

[8] सांख्यसूत्र, १.१.१

[9] ऋग्वेद, १.१८.७

अनन्त शक्ति थी लेकिन शापवशात् उन्हें विस्मृति हो गयी थी। सीतान्वेषण के समय जब हनुमान् जी को समुद्र के पार जाना होता है तो जामवन्त ने उनको उनकी शक्ति याद दिलायी थी। ऐसे ही लोक में भी अनेक ऐसे अवसर देखने को मिलते हैं जब अचम्भित कर देने वाली शक्ति देखने को मिलती है। इसी प्रकार मोक्षप्राप्ति के समस्त साधनों में अत्यन्त साधन के रूप में उपस्थित होता है। इसका प्रत्येक सिद्धान्त अत्यन्त साधारण किन्तु व्यावहारिक है जिससे योग केवल सामान्य लोकव्यवहार का सिद्धान्त प्रतीत होता है लेकिन परमार्थतः ऐसा है नहीं। योग तो सभी दर्शनों में मोक्षप्राप्ति का अत्यन्त सरल साधन है। इसीलिए प्राचीन भारत का प्रत्येक मनुष्य इसे अपने दैनन्दिन जीवन में जीता था। दैनन्दिन जीवन के व्यवहार में लाने से यह प्रत्येक शास्त्र में व्याप्त होता चला गया। प्रत्येक शास्त्र ने योग का व्याख्यान किया, प्रत्येक शास्त्र ने योग को आश्रय दिया। चूँकि प्रत्येक शास्त्र का वर्ण्य विषय भिन्न रहा है अतः योग भी कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। योग के माहात्म्य का प्रतिपादन करते हुए गोरखनाथ विरचित योगबीज नामक ग्रन्थ में शिव एवं पार्वती के हो रहे संवाद के अवसर पर भगवान् शिव कहते हैं कि हे प्रिये ! यदि किसी साधक ने समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर लिया हो, समस्त लौकिकालौकिक विषयों के प्रति विरक्त हो गया हो, अत्यन्त धर्मशील हो तथा अपनी इन्द्रियों पर सर्वप्रकार से विजय प्राप्त कर ली हो किन्तु उसने यदि योगसिद्ध नहीं किया है तो उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है क्योंकि योगसिद्ध किये विना तो देव भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यथा–

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये।।[10]

संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से योग शब्द युज् धातु से घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है जिसके मुख्यतः तीन अर्थ होते हैं– समाधि (दिवादिगणीय आत्मनेपदी युज् समाधौ), संयोग (रुधादिगणीय उभयपदी युजिर् योगे) एवं संयमन (चुरादिगणीय परस्मैपदी युज् संयमने)। भिन्न भिन्न शास्त्रों में योग का भिन्न भिन्न अर्थ ग्रहण किया गया है। महर्षि याज्ञवल्क्य के अद्वैत वेदान्तपरक योग की परिभाषा में योग को संयोग अर्थ में ग्रहण करते हुए अज्ञाननिवृत्ति के अनन्तर जीवात्मा का परमात्मा से जुड़ जाना ही योग है, ऐसा कहा है यथा– **संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः**।[11] जैन दर्शन में शरीर, वाणी एवं मन द्वारा संयम पूर्वक किये गये कर्म को ही योग कहा है यथा– **कायवाङ्मनः कर्म योगः**।[12] महर्षि पतञ्जलि को समाधि अर्थ वाला योग ही स्वीकृत है इसके लिए कई युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। व्यासभाष्य के अनुसार महर्षि पतञ्जलि को युज् समाधौ धातु से निष्पन्न योग शब्द ही अभिप्रेत है, जैसा कि उन्होंने 'योगः समाधिः' वाक्य से कहा भी है। तत्त्ववैशारदीकार ने अपनी टीका में स्पष्ट शब्दों में युज् समाधौ से निष्पन्न योग शब्द को अभिप्रेत कहा है साथ ही समाधिभिन्न अन्य अर्थों को नकार भी दिया है यथा– **'युज् समाधौ' इत्यस्माद् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो न तु युजिर् योगे इत्यस्मात्संयोगार्थ इत्यर्थः**। इसी प्रकार योगवार्त्तिककार ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है कि युज् समाधौ से समाधि अर्थ में निष्पन्न योग शब्द अनुशासनपूर्वक स्वीकार करना चाहिए क्योंकि शास्त्रों में यहीं प्रसिद्ध है यथा– **युज् समाधावित्यनुशासनतः प्रसिद्धो योगः**। तथा भोजराज के कथन से भी स्पष्ट हो जाता है कि युज् समाधौ से निष्पन्न योग शब्द ही महर्षि पतञ्जलि को मान्य है यथा– **युज्**

---

[10] योगबीज, ३२
[11] याज्ञवल्क्य स्मृति
[12] तत्त्वार्थसूत्र

समाधौ अनुशिष्यते व्याख्यायते।

महर्षि पतञ्जलि ने **अथ योगानुशासनम्** (यो.सू.१.१) सूत्र से ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है जहाँ अथ शब्द का आशय अधिकार अर्थ में अभिप्रेत है। बाद के व्याख्याकारों ने इस विषय में अनेक दृष्टि से मन्थन किया, किन्तु व्यासभाष्य में निरूपित **'अथेत्ययमधिकारार्थः'** वाक्य से अधिकारार्थ ही गृहीत होता है। संस्कृत साहित्य में प्राचीन काल से ही किसी भी शास्त्र के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करने की जो परम्परा रही है उसमें लेखक **ॐ** अथवा श्रीगणेशाय नमः, श्रीसरस्वत्यैः नमः अथवा इसी प्रकार के मङ्गलसूचक वाक्य अथवा अथ शब्द का प्रयोग अथवा स्तुतिपरक श्लोक द्वारा कार्य की निर्विघ्न सम्पूर्ति के लिए प्रार्थना की जाती थी– **समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्।**[13] मङ्गलाचरण शास्त्र के प्रारम्भ में, मध्य में अथवा अन्त में किया जाता है– **मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि हि शास्त्राणि प्रथन्ते।**[14] कालिदास विरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् में तो प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त में भी मङ्गलाचरण किया गया है। मङ्गलाचरण भी आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक एवं वस्तुनिर्देशात्मक के भेद से तीन प्रकार का होता है– **आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा। 'अथ योगानुशासनम्'** इस सूत्र में अथ पद अथिकारार्थ ही है किन्तु उसके श्रुतिमात्र से ही मङ्गल का भी बोध हो जाता है जैसे कि अन्य प्रयोजन से ले जाया जाता हुआ जलपूर्णकुम्भ दर्शनमात्र से भी मङ्गलकारी होता है– **अधिकारार्थस्य चाथशब्दस्यान्यार्थं नीयमानोदकुम्भदर्शनमिव श्रवणं मङ्गलायोपकल्पत इति मन्तव्यम्।**[15] संस्कृत वाङ्मय में अथ शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है जैसे– मङ्गल, आनन्तर्य, आरम्भ, प्रश्नादि यथा– **मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ।**[16] एक श्लोक में अथ एवं ओङ्कार पद को मङ्गलार्थक बताया गया है– **ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।।**[17] इस प्रकार उपर्युक्त समीक्षा से ज्ञात होता है कि अथ शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ मुख्यरूप से अधिकारवाचक ही होगा।

प्रथम सूत्र में प्रयुक्त योगानुशासनम् पद का अर्थ योगस्य अनुशासनम् अर्थात् योग का अनुशासन होगा। क्योंकि अनुशासन भी किसी को किसी विषय परिप्रेक्ष्य में सिखाने के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है क्योंकि शास्त्र भी हमें सिखाते ही हैं अनुशासित ही करते हैं इसलिए यहाँ योगानुशासनं का सामान्य अर्थ योगशास्त्र भी हो सकता है– **अनुशासनमिति हि शास्त्रमाहानुशिष्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या।**[18] भास्वतीकार स्पष्टतः कहते हैं कि जो विषय की समीक्षा करते हुए ज्ञानावबोध कराता है वही अनुशासन अथवा शास्त्र है– **योगानुशासनं नाम शास्त्रं तद्द्वारा योगोऽपीत्यर्थः।** इस प्रसंग में महाभाष्यकार ने अनुशासन पद का अर्थ शास्त्र ही बताया है– **शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।**[19] इसी प्रकार योगशास्त्र के प्रसंग में भी अनुशासन का अर्थ शास्त्र ग्रहण किया गया है यथा– **योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।**[20] इस प्रकार योगानुशासनं का अर्थ हुआ– योगविषय का प्रतिपादक शास्त्र। योग को युज् समाधौ से निष्पन्न मानते हुए व्यासभाष्यकार ने यहाँ 'योगः समाधि' का प्रयोग किया है।

---

[13] व्याकरण महाभाष्य
[14] वहीं
[15] द्रष्टव्य – तत्त्ववैशारदी
[16] अमरकोष
[17] द्रष्टव्य – योगसिद्धि हिन्दी व्याख्या
[18] वहीं
[19] द्रष्टव्य – योगसिद्धि हिन्दी व्याख्या
[20] वहीं

समाधि चित्त की सभी भूमियों अर्थात् अवस्थाओं में रहने वाला चित्त का धर्म है किन्तु सभी अवस्थाओं में योग सम्भव नहीं है क्योंकि प्रारम्भ के तीन भूमियों क्षिप्त, मूढ एवं विक्षिप्त में चित्त के बार–बार विक्षेप होने के कारण समाधि गौण हो जाती है, समाधि लम्बे समय ठहर नहीं पाती है इसलिए इन तीनों भूमियों में योग सिद्ध नहीं हो पाता है। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने व्यासभाष्य की हिन्दी व्याख्या करते हुए स्पष्ट करते हैं कि **'स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः'**[21] इस पङ्क्ति के अनुसार समाधि सभी भूमियों में होती है जैसे कि प्रथम भूमि क्षिप्त भूमि में रजोगुण का प्राबल्य होता है, चित्त में अनेक विषयों का संलेप रहता है। ऐसी स्थिति में चित्त में अत्यन्त द्वेषवशात् समाधि हो जाती है जैसे कि महाभारत में पाण्डवों से परास्त होने के बाद जयद्रथ का चित्त भगवान् शिव में समाधिस्थ हो गया था। द्वितीय भूमि मूढ में तमोगुण का प्राबल्य रहता है, अत्यन्त आलस्य, मूर्च्छादि का प्रभाव व्याप्त रहता है, अपनी प्रियतमा के सौन्दर्य के अनुराग में अत्यन्त ध्यानमग्न होकर किसी अन्य विषय पर ध्यान न देना भी समाधि जैसा ही है। इसी प्रकार तृतीय भूमि विक्षिप्त में रजोगुण एवं तमोगुण की अपेक्षा सत्त्वगुण का आधिक्य होता है, इसमें किञ्चित् काल के लिए चित्त समाधिस्थ होता है किन्तु किसी आलम्बन के उपस्थित होने पर समाधि तुरन्त टूट जाती है इसलिए ये तीनों भूमियाँ समाधियोग्य तो हैं किन्तु इसमें योगसिद्धि नहीं हो सकती है। चतुर्थ भूमि एकाग्र है, इस भूमि में रजोगुण एवं तमोगुण दबे रहते हैं तथा सत्त्वगुण का आधिक्य होता है, चित्त किसी एक विषय के प्रति आकृष्ट होकर केवल उसी विषय को प्रकाशित करता है, चित्त के सभी अविद्यादि क्लेश नष्ट हो जाते हैं, कर्मों के संस्कार शिथिल हो जाते हैं तथा असम्प्रज्ञात समाधि को सामने उपस्थित हो जाता है, यह एकाग्र भूमि ही सम्प्रज्ञात समाधि है– **यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते**।[22] तथा जिस भूमि में सभी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है वह निरुद्ध भूमि है इसी को असम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं– **सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः**।[23]

प्रथम सूत्र में इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को योग का अधिकृत बता दिया है अतः अब आगे महर्षि पतञ्जलि योग का लक्षण करते हुए कहते हैं कि चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं– **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**।[24] वस्तुतः संसार में व्यापार का साधन चित्तवृत्तियाँ हैं और जबतक ये चित्तवृत्तियाँ विषयों से सम्बद्ध होती रहेंगी तब तक योग की सिद्धि निश्चित नहीं, अतः इन चित्तवृत्तियों के व्यापार पर नियन्त्रण को योग कहते हैं। चूंकि योग अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रासङ्गिक विषय है अतः इसका उल्लेख अन्यान्य शास्त्रों में भी प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण योग को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि जो दुःख के संयोग का वियोग है वही योग है अर्थात् जिसके निरन्तर अभ्यास से दुःख का संयोग समाप्त हो जाये, त्रिविध दुःखों का आत्यन्तिक नाश हो जाये वह योग है– **दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**।[25] कर्मयोग के परिप्रेक्ष्य में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मों में कुशलता को योग कहते हैं– **योगः कर्मसु कौशलम्**।[26] भगवान् श्रीकृष्ण अन्यत्र भी कहते हैं कि कर्मफलों में आसक्ति का त्याग करते हुए सिद्धि एवं असिद्धि में समभाव होकर कर्म करना भी योग कहलाता है, यथा– **योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग**

[21] व्यासभाष्य
[22] व्यासभाष्य
[23] वहीं
[24] योगसूत्र १.२
[25] भगवद्गीता, ६.२३
[26] भगवद्गीता, २.५०

उच्यते।।[27] वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि यह योग सार्वभौम है अर्थात् चित्त की सभी भूमियों में रहने वाला है तथा यह चित्तवृत्तिनिरोधरूप है यथा– **सार्वभौमश्चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणो योगः।**[28] योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि पुरुष का अपने आत्यन्तिक स्वरूप में स्थित होने के हेतु चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं– **पुरुषस्यात्यन्तिकस्वरूपावस्थितेर्हेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योगः।**[29] महर्षि याज्ञवल्क्य योग का लक्षण करते हुए कहते हैं कि जीवात्मा एवं परमात्मा का परस्पर संयोग होना योग कहलाता है– **संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।**[30] इस प्रकार सभी आचार्यों ने अपनी अपनी दृष्टि से योग के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। महर्षि पतञ्जलि का योग प्रायशः समाधि अर्थ में है किन्तु अन्यान्य आचार्यों ने संयोग एवं संयमन अर्थ में भी योग को स्वीकार किया है।

योग के लक्षण में चित्त के समस्त वृत्तियों के निरोध का निर्देश नहीं हुआ है। यदि समस्त वृत्तियों का निरोध ही योग है तो सम्प्रज्ञात योग इससे बाहर हो जायेगा क्योंकि सम्प्रज्ञात योग में सत्त्वगुण का उद्रेक रहता है, चित्त किसी आलम्बन को आश्रित कर समाधिस्थ होता है, इसमें कुछ वृत्तियाँ जाग्रत रहती हैं। चित्त प्रकाशशील (सत्त्वगुण), चेष्टा वाला (रजोगुण) एवं स्थैर्यशील (तमोगुण) होने के कारण त्रिगुणात्मक है। चित्त में जब रजोगुण एवं तमोगुण के साथ सत्त्वगुण का प्राबल्य होता है, तो शब्दादि विषयों एवं ऐश्वर्य के प्रति इच्छा उत्पन्न हो जाती है। वही चित्त जब तमोगुण से आप्लावित होता है तो अधर्म, अज्ञान, अनैश्वर्य एवं अवैराग्य से युक्त हो जाता है तथा जब चित्त रजोगुण से युक्त होता है तो धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य एवं वैराग्य के प्रति आकृष्ट होता है। आशय यह है कि चित्त में जिस समय जिस गुण का उद्रेक होता है चित्त उस समय तत्परक विषयों का उपभोग करता है। वही चित्त जब केवल सत्त्वगुण वाला होता है तो पुरुष स्वस्वरूप प्रतिष्ठित सा प्रतीत होने लगता है, बुद्धि और पुरुष में भेद का बोध होने लगता है यही विवेकख्याति है तथा चित्त धर्ममेघ समाधि तक पहुँचने वाला हो जाता है इसे ही विद्वानों ने परसंख्यान कहा है। चितिशक्ति अर्थात् पुरुष अपरिणामी, निष्क्रिय, द्रष्टा, शुद्ध एवं अनन्त है। विवेकख्याति पुरुष से सर्वथा भिन्न तथा सत्त्वगुणात्मक है, इस विवेकख्याति से विरक्त चित्त इसे भी निरुद्ध कर देता है, इस निरुद्धावस्था में चित्त में केवल संस्कारमात्र ही अवशिष्ट रह जाता है, क्योंकि इस अवस्था के बाद अब पुनः चित्त का विषयों के प्रति आसक्ति नहीं हो पाती इसलिए इस अवस्था को ही निर्बीज समाधि कहते हैं। इस स्थिति में चित्त को किसी भी वस्तु अथवा विषय का ज्ञान नहीं होता है यही असम्प्रज्ञात योग है। भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता में कहते हैं कि जिसका आहार एवं विहार युक्तियुक्त है जिसके कर्मों में निष्कर्मण्य चेष्टा है जिसकी निद्रा एवं जागरण नियमित है उसके दुःखों का नाश योग करता है यथा–

> **युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**
> **युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।**[31]

चित्तवृत्तिनिरोधो योगः इस प्रकार से पतञ्जलि ने योग का लक्षण किया है व्यासभाष्य तथा अन्य टीकाओं में इस सूत्र की बृहद व्याख्या की गयी है। योग का परम प्रयोजन

---

27 भगवद्गीता, २.४८
28 द्रष्टव्य – तत्त्ववैशारदी
29 द्रष्टव्य – योगवार्त्तिक
30 याज्ञवल्क्य स्मृति
31 गीता, ६.१७

है पुरुष के आत्मस्वरूप की प्राप्ति; जो कि तृतीय सूत्र में वर्णित है यथा– **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**[32] अर्थात् योगसिद्ध हो जाने पर द्रष्टा अर्थात् पुरुष अर्थात् जीवात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, परमपद कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि योग आत्मस्वरूप प्राप्ति का परम साधन है, अतः यहाँ योग साधन के रूप में प्रयुक्त है। जब योग द्वारा चित्तवृत्तियों का पूर्णतः निरोध हो जाता है उस समय द्रष्टा अर्थात् पुरुष का बुद्धि से सम्बन्ध नष्ट हो जाता है; आशय यह है कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर पुरुष बुद्धि के वृत्त्याकाराकारित हो जाता है, बुद्धि के दुःखी होने पर दुःख का अनुभव करता था, बुद्धि के सुखी होने पर सुख का अनुभव करता था; अब वह सम्बन्ध टूट चुका है अतः वह द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित होकर परमानन्द का अनुभव करता है जो कैवल्य है। साङ्ख्ययोग का सिद्धान्त है कि पुरुष सर्वदैव निष्कलुष होता है उसमें चित्तमात्र का प्रतिबिम्बन होता है और चित्त में जिस प्रकार के विषयों का संयोग होता है पुरुष भी तद्वत् अनुभव करता है जैसे कि दर्पण में प्रतिबिम्बित जपाकुसुम दर्पण से बिल्कुल भी भिन्न प्रतीत नहीं होता है ठीक वैसे ही पुरुष के साथ भी है। जपाकुसुम रक्तवर्ण का होता है उसका प्रतिबिम्बन जैसे ही दर्पण में होता है दर्पण भी पूर्णतः रक्तवर्ण का प्रतीत होने लगता है वस्तुतः वह रक्तवर्ण का नहीं होता है किन्तु जपाकुसुम का दर्पण में प्रतिबिम्बन होने से दर्पण भी रक्तवर्ण सा प्रतीत होता है। ठीक ऐसे ही पुरुष को भी स्वभावतः सुख–दुःख का अनुभव नहीं होता है किन्तु अनेक विषयों से विकृत चित्त का जब पुरुष में प्रतिबिम्बन होता है तो पुरुष भी सुख–दुःखादि का अनुभव करने लगता है। जैसे एक ही वस्तु का जल, तेल, दर्पण, तलवारादि में अलग–अलग प्रतिबिम्ब बनता है वैसे ही पुरुष को भी चित्त के अनुसार विषयों का अनुभव होता है। विवेकख्याति से चित्त एवं पुरुष का यह सम्बन्ध विखण्डित हो जाता है तथा पुरुष कैवल्य के प्रति अग्रसरित हो जाता है। व्यासभाष्यकार स्पष्ट रूप से कहते हैं कि चित्त के व्युत्थान काल में अर्थात् विषयों के संसर्ग में आने पर पुरुष अपने रूप में प्रतिष्ठित होने पर भी अपने रूप को नहीं जान पाता है। इसीलिए व्यासभाष्यकार कहते हैं कि पुरुष तभी अपने स्वरूप में स्थित हो सकता है जब वह कैवल्य की अवस्था में होगा। यह कैवल्यावस्था पुरुष की केवल चैतन्यमात्र है, वह निर्विषयी होता है, वह इस अवस्था में किसी भी अनित्य विषय की अनुभूति नहीं करता है वह केवल और केवल परमानन्द का अनुभव करता है– **तदाऽसम्प्रज्ञातयोगकाले द्रष्टुः चितिशक्तेः पुरुषस्य स्वरूपे निर्विषयचैतन्यमात्रेऽवस्थानमित्यर्थः**।[33] पुरुष के कैवल्य प्राप्ति हेतु ही इस योगशास्त्र का सम्पूर्ण व्यापार है।

व्युत्थान की अवस्था में अर्थात् जब पुरुष में चित्त का प्रतिबिम्बन होता है चित्त का विषयों से संयोग होता है तो उस काल में पुरुष का व्यापार कैसा होता है? जब चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता है तब पुरुष का किस प्रकार का अनुभव होता है? उसका स्वरूप कैसा होता है? इस पर पतञ्जलि कहते हैं कि जब तक चित्तवृत्तियों का समूलतः निरोध नहीं हो जाता तब तक वह द्रष्टा चित्तवृत्तियों के अनुरूप अपना स्वरूप समझता है। चित्त में जिसप्रकार के विषयों का संयोग होता है पुरुष को भी उसी प्रकार का अनुभव होता है यथा– **वृत्तिसारूप्यमितरत्र**।[34] चित्तवृत्तियों के प्रभाव से द्रष्टा अपने स्वरूप का अवलोकन नहीं कर पाता है। इस अवस्था में चित्त एवं पुरुष का स्वरूप भिन्न–भिन्न नहीं होता है अतः दोनों का दर्शन भिन्न–भिन्न नहीं होता है। यहाँ चित्त एवं पुरुष का जो सम्बन्ध है वह किसी निमित्त को आश्रित करके नहीं है

[32] योगसूत्र १.३
[33] द्रष्टव्य – तत्त्ववैशारदी
[34] योगसूत्र १.४

अपितु पुरुष एवं चित्त का सम्बन्ध अनादि है।

क्योंकि पुरुष ही अन्य शास्त्रों में आत्मा शब्द से अभिहित किया जाता है अतः अन्य शास्त्रों के अनुसार आत्मा के स्वरूप को जानना भी आवश्यक है। चूँकि आत्मा के संयोग मात्र से ही इस भौतिक शरीर में चेतना का प्रवाह होता है अतः सर्वप्रथम तो आत्मा के चेतन स्वरूप का ही विवेचन होना चाहिये। किसी शास्त्र में चेतना आत्मा का स्वरूप बताया गया है तो किसी शास्त्र में चेतना आत्मा का गुण बताया गया है। जब तक आत्मा का भौतिक शरीर से सम्बन्ध रहता है तब तक वह शरीर सचेतन रहता है किन्तु जैसे ही आत्मा का शरीर से वियोग होता है वह शरीर मृतप्राय हो जाता है। चेतना के विना इस भौतिक शरीर का कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि चेतना के अभाव में मृत शरीर पाषाण की तरह पड़ा रहता है उसमें किसी भी प्रकार की क्रिया – प्रतिक्रिया नहीं होती है। इसीलिए जब शरीर से आत्मा निकल जाता है तो शरीर जलाने या दफनाने में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती है। सामान्य स्थिति में यदि शरीर में किसी प्रकार का आघात हो जाये, अग्नि का स्पर्श हो जाये तो अत्यन्त दुःख होता है अतः भौतिक शरीर की भी तभी तक उपयोगिता है जब तक कि उसमें आत्मा का सन्निकर्ष है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शरीर के होने से ही आत्मा का भी महत्त्व है क्योंकि शरीर के अभाव में आत्मा अपने मूल स्वरूप में परमानन्द में स्थित रहती है। आत्मा का जब – जब शरीर से सम्बन्ध होता है तब – तब वह उस अपने मूल स्वरूप को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्नरत होता है। क्योंकि इस भौतिक शरीर से जुड़े रहना बन्धन है और इस शरीर से हमेशा के लिए मुक्त हो जाना मोक्ष है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में आत्मा का कभी जन्म नहीं होता है। आत्मा को ब्रह्म, शिव, ईश्वर आदि पर्यायों से अभिहित किया जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा को विज्ञानमय कहा गया है। वह सर्वथा पूर्ण है। आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए वेदान्तसार के लेखक सदानन्द कहते हैं कि यह आत्मा तो नित्य है, शुद्ध है, बुद्ध है, मुक्त, सत्य स्वभाव वाला है, परमानन्द है, अनन्त है, एक है – अहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म' स्वरूप वाला है। योगदर्शन के समानतन्त्र सांख्यदर्शन में पुरुष अर्थात् आत्मा का स्वरूप बताते हुए उसकी सिद्धि के लिए पाँच हेतु प्रस्तुत किये गये हैं – १. संघातपरार्थ, २. त्रिगुणादिविपर्यय, ३. अधिष्ठान, ४. भोक्ता एवं ५. कैवल्य के लिए प्रवृत्ति। इस जगत् में जितने भी पदार्थ बने हैं, विषय बने हैं। वे सभी के सभी किसी दूसरे के द्वारा उपयोग किये जाने के लिए होते हैं जैसे कि शय्या, आसन, घर, अनाज आदि संघातमय हैं ये किसी अन्य के द्वारा ही प्रयोग में लाये जाते हैं। क्योंकि ये सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं तथा जड़ हैं किन्तु ये सभी पदार्थ जिनके लिए बने हैं वह निश्चित रूप से कोई चेतन ही होगा वह पुरुष ही है। मूल प्रकृति का स्वभाव त्रिगुणात्मक है उससे उत्पन्न सभी तत्त्व भी त्रिगुणात्मक ही होंगे किन्तु जो पुरुष है वह तीनों गुणों से भिन्न है अतः पुरुष त्रिगुणादिविपर्यय है। संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब की सब त्रिगुणात्मक है किन्तु उनका जो अधिष्ठाता है वह निश्चित रूप से त्रिगुण भिन्न होगा। त्रिगुणात्मक विषय सुख, दुःख एवं मोहात्मक होते हैं उनसे भिन्न जो पुरुष है वह परमानन्द स्वभाव वाला है, अतः इन सभी त्रिगुणात्मक पदार्थों का पुरुष ही अधिष्ठाता है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब के सब त्रिगुणात्मक हैं तथा भोग्य विषय के रूप में उपस्थित हैं। इन सभी भोग्य पदार्थों का कोई न कोई भोक्ता अवश्य होगा, किन्तु वह भोक्ता इन भोग्य पदार्थों से निश्चित ही भिन्न होगा। भिन्न कहने का आशय उसके अत्रिगुणात्मक स्वभाव से है। अतः जो पुरुष है वही इन सभी त्रिगुणात्मक विषयों, भोग्य पदार्थों का भोक्ता है। यदि पुरुष भोक्ता बनता है तो इसका आशय यह नहीं है कि वह सुख, दुःखादि से जुड़

जायेगा। अज्ञानवशात् पुरुष का जो अन्तःकरण से सम्बन्ध हो जाता है उसे उससे मुक्त भी होना होता है क्योंकि वह अपने स्वरूप को प्राप्त करना ही चाहता है अतः कैवल्य के लिए उसकी प्रवृत्ति होती है। सांख्यदर्शन में इन्हीं पाँच वाक्यों से पुरुष की सिद्धि की गयी है –

सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।। (सांख्यकारिका, १७)

श्रीमद्भगवद्गीता में भी अनेक स्थानों पर आत्मा का विवेचन प्राप्त होता है कि वह आत्मा अविनाशी है, उस आत्मा से ही ये सम्पूर्ण जगत् है, इस अव्यय आत्मा का कभी नाश नहीं हो सकता और न ही कभी कोई इसे नष्ट करने में समर्थ है – अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।। कठोपनिषद् के एक श्लोक में बताया गया है कि वह आत्मा न कभी जन्म लेती है और न ही कभी मृत्यु को प्राप्त होती है, न ही यह किसी के द्वारा प्रकट किया जाता है, वह अजन्मा है, वह नित्य है, वह शाश्वत है, वह चिरनूतन है, भौतिक शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह आत्मा नहीं मरती है यथा – न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे (कठोपनिषद्, १.२. १८)।। जिस प्रकार पुराना, फटा, मैला वस्त्र त्यागकर नया वस्त्र धारण किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेती है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसका अत्यन्त सरलता पूर्वक विवेचन प्राप्त होता है यथा – वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। इस प्रकार साधक परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हेतु योग द्वारा अपने साध्य की सिद्धि कर लेता है तथा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही पुरुष का परमार्थ स्वरूप है। यही मोक्ष है। यही कैवल्य है।

13.3 सारांश

भारतीय ज्ञान परम्परा में योग अत्यन्त व्यावहारिक एवं प्रसिद्ध है। योग को सूत्ररूप में निबद्ध कर मौलिक एवं विस्तृत रूप देने वाले महर्षि पतञ्जलि ने शास्त्र का प्रारम्भ युक्तियुक्तपूर्वक पारम्परिक दृष्टिकोण से ही किया है। किसी भी कार्य के निर्विघ्न सम्पूर्ति हेतु जिस प्रकार से मङ्गलाचरण का प्रावधान किया है ठीक वैसे ही पतञ्जलि ने भी 'अथ' के श्रवणमात्र से मङ्गलार्थ शब्द का प्रयोग किया है, मुख्य रूप से अथ शब्द का अर्थ अधिकारार्थक ही है। व्यासभाष्यकार ने इस सूत्र पर विस्तृत भाष्य करते हुए योग के स्वरूप, चित्त की पञ्चभूमियों आदि का विस्तृत वर्णन किया है। आशय यह है कि प्रथम सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने योग की पृष्ठभूमि तैयार की है। शास्त्र के द्वितीय द्वारा योग का लक्षण किया जाता है जो अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट है। भाष्यकार ने पुनः इसपर भाष्य करते हुए असम्प्रज्ञात के साथ सम्प्रज्ञात को भी योग का क्षेत्र निर्धारित किया है। चित्त का स्वरूप बताते हुए चित्त को प्रकाश, चेष्टा एवं स्थैर्यशील बताया है जो कि सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के स्वभाव के कारण होता है, इसी विवेचन से यह भी ज्ञात होता है कि चित्त त्रिगुणात्मक होता है। पुनः तमोगुण एवं रजोगुण के साथ सत्त्वगुण के उद्रेक होने पर चित्त में विषयों एवं ऐश्वर्य के प्रति इच्छा जागृत होती है, तमोगुण का उद्रेक होने पर निद्रा, आलस्यादि आता है तथा रजोगुण का उद्रेक होने पर धर्म, ज्ञानादि को प्राप्त करने हेतु संकल्पित होता है। किन्तु जब चित्त सत्त्वगुणात्मक होता है तो विवेकख्याति उत्पन्न होती है, पुरुष को बुद्धि से भेदज्ञान होने लगता है, सभी क्लेश नष्ट हो जाते हैं, कर्म बन्धन नहीं रह

जाता है, इस प्रकार से अब असम्प्रज्ञात समाधि स्थित होने लगती है। पुनः धर्ममेघादि समाधि के सम्पन्न होने पर पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् पुरुष अपने स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है यही इस शास्त्र के तृतीय सूत्र प्रतिपाद्य है। चतुर्थ सूत्र का वर्ण्य विषय यह है कि जब तक पुरुष को स्वस्वरूपावबोध नहीं हुआ होता है तबतक उसका स्वरूप क्या होता है? इस पर सूत्रकार स्पष्टतः कहते हैं कि तब वह पुरुष चित्तानुरूप विषयों का उपभोग करता रहता है– वृत्तिसारूप्यमितरत्र। इस प्रकार इस इकाई में हमने जाना कि प्रथम सूत्र से योगशास्त्र का अधिकार प्रारम्भ हो रहा है, द्वितीय सूत्र से योग का लक्षण, तृतीय सूत्र से योगसिद्धि हो जाने पर पुरुष का स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना तथा चतुर्थ सूत्र से जाना कि जबतक पुरुष अपने स्वरूप में स्थित नहीं होता है तब तक वह चित्त के अनुसार सुख–दुःखादि का अनुभव करता है।

13.4 शब्दावली

दुःख	प्रतिकूल अनुभव, इच्छा के विपरीत वस्तु की प्राप्ति
सुख	अनुकूल अनुभव, इच्छा के अनुसार वस्तु की प्राप्ति
मङ्गलाचरण	कार्य की निर्विघ्न सम्पूर्ति हेतु प्रारम्भ में की जाने वाली माङ्गलिक विधि
अथ	माङ्गलिक शब्द (मङ्गल, आनन्तर्य, प्रारम्भादि अर्थ)
चित्तवृत्ति	बुद्धि, अहंकार एवं मन का सम्पृक्त रूप
निरोध	रोकना
द्रष्टा	देखने वाला, पुरुष, आत्मा
स्वरूप	यथार्थ स्वभाव
अवस्थान	स्थित हो जाना, प्राप्त कर लेना
क्षिप्त	प्रथम चित्तभूमि, रजोगुणात्मिका चित्त की अवस्था
मूढ	द्वितीय चित्तभूमि, तमोगुणात्मिका चित्त की अवस्था
विक्षिप्त	तृतीय चित्तभूमि, रजोगुण, तमोगुण से युक्त सत्त्वगुणात्मिका चित्त की अवस्था
एकाग्र	चतुर्थ चित्तभूमि, केवल सत्त्वगुणात्मिका चित्त की अवस्था, सम्प्रज्ञात योग
निरुद्ध	पञ्चम चित्तभूमि, चित्त की निर्गुण–निर्बीज अवस्था, असम्प्रज्ञात योग
सम्प्रज्ञात	सत्त्वगुणात्मक चित्त, विषयों का यत्किञ्चित् भान होने की अवस्था
असम्प्रज्ञात	निर्विषयी चित्त, किसी भी विषय का भान न होने की अवस्था
कैवल्य	पुरुष की परमावस्था, योग का परमलक्ष्य

13.5 बोध/अभ्यास प्रश्न

१. 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र का प्रतिपाद्य स्पष्ट करें।
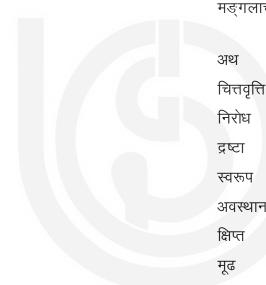
२. 'अथ योगानुशासनम्' सूत्र अथ एवं योगानुशासनम् पद की व्याख्या करें।

३. चित्तभूमि क्या है? विस्तृत निबन्ध लिखें।

४. पुरुष की स्वस्वरूप में अवस्थिति कैसे होती है?

५. चित्त एवं पुरुष के सम्बन्ध पर विस्तृत टिप्पणी लिखें।

13.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

पातंजल योगसूत्र, व्याख्याकार, श्रीनन्दलाल दशोरा, हरिद्वार, रणधीर प्रकाशन, १६६७।

योगदर्शन (प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या), व्याख्याकार, स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी, मुम्बई, श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट।

योगदर्शन, व्याख्याकार, पं. राजाराम प्रोफेसर, लाहौर, साहित्य प्रचारक मण्डल, १६२२।

पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार, डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

पातञ्जल योगदर्शनम्, व्याख्याकार, श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, अजमेर, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस १६३२।

पातञ्जल योगसूत्र (बंगाली बाबा व्याख्या), हिन्दी अनुवादक, कुमारी वृजरानी देवी, पूना, एन.आर.भार्गव, १६४८।

योगदर्शन समीक्षा, लेखक– पं. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, १६६७।

योगतत्त्वाङ्क, कल्याण विशेषाङ्क, गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष १६६।

भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व, लेखक– एम. हिरियन्ना, अनु. प्रकाश नारायण शर्मा, सेन्ट्रल बुक डिपो, १६५४।

भारतीय दर्शन की रूपरेखा, लेखक– प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १६७४।

भारतीय दर्शन, लेखक– आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, चौखम्भा ओरियन्टालिया, १६७६।

भारतीय दर्शन, लेखक– वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, २००६।

भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, लेखक– चन्द्रधर शर्मा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, २०१०।

इकाई 14 चित्तवृत्तियों के प्रकार, स्वरूप एवं निरोध

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

- योग दर्शन के अनुसार चित्त के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- चित्तवृत्तियों का स्वरूप जान पायेंगे।
- चित्तानुरूप पुरुष के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- चित्तवृत्ति के भेद एवं उनके स्वरूप को जान सकेंगे।
- चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों को समझ सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

दार्शनिक परम्परा में योग अत्यन्त प्रसिद्ध साधना पद्धति है। पुरुष का विषय से संयोग न होने पर भी उसे विषयानुकूल सुख–दुःख की अनुभूति होती है इसका एकमात्र कारण है कि बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्बन होता है। बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्बन होने का आशय है कि जैसे दर्पण के सामने जपाकुसुम के उपस्थित होने पर दर्पण का रंग रक्तवर्ण का न होते हुए भी सामान्य जनमानस को रक्तवर्ण ही प्रतीत होता है, मानो दर्पण का दर्पणत्व नष्ट सा हो जाता है, वस्तुतः ऐसा होता नहीं है किन्तु जपाकुसुम के उपस्थित हो जाने से दर्पण में विकार आ जाता है ठीक ऐसे ही पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्बन होने पर पुरुष के निष्कलुष, निर्लेप होते हुए भी मानो चित्तवृत्तियों के अनुरूप विषयों का उपभोग करते हुए पुरुष सुखी –दुःखी होता रहता है। पुरुष ही अन्य दर्शनों में जीवात्मा के नाम से जाना जाता है। यद्यपि सृष्टि में विषयों की उत्पत्ति उपभोग के लिए ही हुई है चित्त भी अपनी सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक प्रकृति के अनुरूप विषयों का उपभोग करता रहता है। यह विषयों का उपभोग पारमार्थिक अर्थात् तात्त्विक न होकर केवल व्यावहारिक होता है। योग पुरुष में बुद्धि के प्रतिबिम्बन में बाधक बनता है अर्थात् बुद्धि को प्रतिबिम्बित होने ही नहीं देता है। जैसा कि योग का लक्षण ही है चित्तवृत्तियों का निरोध करना। अज्ञानवशात् पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्बन होने पर पुरुष को जो विषयों का ज्ञान होता है, पुरुष को जो अनुभव होता है वह पुरुष और बुद्धि का सम्बन्ध योग द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। साङ्ख्यदर्शन में पुरुष एवं प्रकृति के विवेकज्ञान को ही विवेकख्याति कहा गया है। यह पुरुष एवं प्रकृति अर्थात् बुद्धि की वह अवस्था है जब तत्त्वज्ञान से पुरुषगत अज्ञान नष्ट हो जाता है। पुरुष एवं अन्य सभी तत्त्वों का साधर्म्य –वैधर्म्य ज्ञात हो जाता है। विवेकज्ञान होते ही

पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्बन होना बन्द हो जाता है, चित्तगत वृत्तियों के अनुरूप जो पुरुष को सुख –दुःख की अनुभूति हो रही थी वह अब नहीं होती है। पुरुष जैसे निश्चल था, निर्लेप था वह तथागत हो जाता है। साङ्ख्यदर्शन की दृष्टि में यही पुरुष की कैवल्यावस्था है। योगदर्शन इससे थोड़ा सूक्ष्म चिन्तन करता है। साङ्ख्यदर्शन के अनुसार सात्त्विक गुण के उद्रेक के कारण पुरुष एवं प्रकृति का भेदज्ञान अर्थात् विवेकज्ञान हो जाता है यही कैवल्य है, किन्तु योगदर्शन में यह अवस्था सम्प्रज्ञात योग की है। सम्प्रज्ञात योग के अनन्तर साधक द्वारा अनेक प्रक्रियायें पूर्ण की जाती हैं। चूँकि योगसूत्रकार ने चतुर्थ सूत्र में कहा है कि पुरुष के स्वरूपावस्थिति से भिन्न स्थिति में उसका स्वरूप चित्तवृत्तियों के अनुरूप होता है लेकिन जब तक चित्तवृत्तियों के स्वरूप को नहीं समझेंगे तब तक पुरुष में दिखने वाले विकार को नहीं समझ सकेंगे। इसलिए प्रस्तुत इकाई में चित्तवृत्तियों का स्वरूप एवं उनके निरोध का विवेचन किया गया है। चित्तवृत्तियों का स्वरूप जानने के अनन्तर उन चित्तवृत्तियों का निरोध करना भी आवश्यक है क्योंकि जब तक चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं किया जायेग तब तक योग ध्येय सिद्ध नहीं होगा।

14.2 चित्तवृत्तियों के प्रकार, स्वरूप एवं निरोध

योगदर्शन में बुद्धि, मन एवं अहङ्कार के समूह मात्र को चित्त कहा गया है। यह चित्त प्रकाशशील अर्थात् सत्त्वगुण वाला, चेष्टाशील अर्थात् रजोगुण वाला एवं स्थैर्यशील अर्थात् तमोगुण वाला होने के कारण त्रिगुणात्मक होता है – **चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्।**[1] चित्त के व्यापार अर्थात् बुद्धि, मन एवं अहङ्कार से होने वाले भौतिक विषयों के ज्ञान को चित्तवृत्ति कहते हैं। ये चित्त की वृत्तियाँ मुख्यरूप से पाँच प्रकार की होती हैं किन्तु प्रत्येक चित्तवृत्तियों के सहायक एवं बाधक होने की दृष्टि से इन्हें क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट दृष्टि से भी विभाजित किया गया है – **वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।**[2] क्लिष्ट का सामान्य अर्थ होता है बाधक। आशय यह है कि जो चित्तवृत्तियाँ योगसिद्धि में बाधा उत्पन्न करती हैं जो चित्तवृत्तियाँ अविद्या, अस्मिता, रागद्वेषादि क्लेशों से युक्त होती हैं वे क्लिष्ट होती हैं – **क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः।**[3] वहीं पर जब चित्तवृत्तियाँ सद्ज्ञाँन से क्लेशों का क्षरण करने वाली होती हैं एवं योगसिद्धि में सहायकभूत होती हैं वे अक्लिष्ट चित्तवृत्तियाँ होती हैं – **ख्यतिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः।**[4] चित्तवृत्तियाँ पाँच प्रकार की अधोलिखित हैं – प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति यथा – **प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।**[5] यहाँ प्रमाण प्रथम चित्तवृत्ति है जिसका लक्षण पतञ्जलि एवं व्यासभाष्यकार ने नहीं किया है किन्तु टीकाकारों ने शास्त्राभिमत लक्षण किया है यथा – **अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहारहेतुः प्रमा, तत्करणं प्रमाणम्**[6] अर्थात् तत्त्वाज्ञान की स्थिति में पुरुष को होने वाला बोध ही प्रमा है और उस प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण चित्तवृत्ति के मुख्यतः तीन भेद किये गये हैं यथा – प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम (शब्द) यथा – **प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।**[7] जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण चित्तवृत्ति का लक्षण करते हुए व्यासभाष्यकार ने कहा है कि –

---

[1] व्यासभाष्य, १.२
[2] योगसूत्र, १.५
[3] व्यासभाष्य, १.५
[4] वहीं
[5] योगसूत्र, १.६
[6] द्रष्टव्य – तत्त्ववैशारदी
[7] योगसूत्र, १.७

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्[8] अर्थात् इन्द्रिय के द्वारा चित्त के बाह्य वस्तु से सम्पर्क होने पर विषय के सामान्यविशेषात्मक अवबोध से विशेष को प्रधान रूप में धारण करने वाली चित्तवृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण चित्तवृत्ति है। जब प्रत्यक्ष प्रमाण चित्तवृत्ति से सांसारिक विषयों के क्षणभङ्गुरतादि का बोध होने पर मनुष्य में इन विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, चित्त को भौतिक पदार्थों में जाने से रोकने का भाव उत्पन्न हो जाता है तो यह चित्तवृत्ति योगसाधन में सहायक होती है अतः यह अक्लिष्ट होगी। जब प्रत्यक्ष प्रमाण चित्तवृत्ति से सांसारिक पदार्थों में राग उत्पन्न होता है मनुष्य भोगों के प्रति आकृष्ट होता है तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण चित्तवृत्ति योगसाधन में बाधक है अतः क्लिष्ट है। पक्ष में साध्य को निश्चित करने वाले लिङ्गपरक ज्ञान से उत्पन्न होने वाले पदार्थ में सामान्य अंश का मुख्यरूप से ग्रहण करने वाली चित्तवृत्ति अनुमान है – **अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्।**[9] जैसे कि चाँद – तारे गतिमान् हैं, इनके अन्य – अन्य देशों में दिखने के कारण। क्योंकि जो जो अन्य – अन्य देशों में दिखता है वह गतिमान् है जैसे – चौत्र (एक व्यक्तिविशेष)। तथा जो गतिमान् नहीं है वह अन्य – अन्य देशों में नहीं दिखता है जैसे – विन्ध्यपर्वत (एक पर्वतविशेष)। इस अनुमान प्रमाण चित्तवृत्ति से भी जब मनुष्य को विषयों में अनित्य, दुःखादि का बोध होता है वह वैराग्य की ओर अग्रसर होता है तो वह अनुमान प्रमाण चित्तवृत्ति अक्लिष्ट है किन्तु जब मनुष्य को इस अनुमान प्रमाण चित्तवृत्ति से विषयों में नित्य, सुखादि का ज्ञान होता है वह उनके उपभोग के लिए प्रवृत्त होता है तो वह क्लिष्ट चित्तवृत्ति है। वेद, शास्त्र एवं आप्त पुरुषों के वचनों को आगम कहते हैं। जहाँ प्रत्यक्ष एवं अनुमान से विषयों का ज्ञान नहीं होता है वहाँ आगम प्रमाण से होता है। आप्तपुरुष द्वारा जब प्रत्यक्ष एवं अनुमित ज्ञान का दूसरे व्यक्तियों के लिए ज्ञानसंक्रमण हेतु शब्दों द्वारा उपदेशित किया जाता है तो शब्दश्रवण से श्रोता के चित्त में उपन्न होने वाली चित्तवृत्ति आगम कहलाती है – **आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः।**[10] जिस आगम प्रमाण चित्तवृत्ति से मनुष्य को भौतिक भोगों में वैराग्य उत्पन्न होता है योगसाधन में श्रद्धा एवं उत्साह बढ़ता है वह अक्लिष्ट है तथा जिस आगम प्रमाण चित्तवृत्ति से भोगों में प्रवृत्ति एवं योगसाधन में अश्रद्धा बढ़ती है वह क्लिष्ट है। इस प्रकार प्रमाण चित्तवृत्ति के तीन भेद प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम के क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट रूपों को जाना।

पञ्च चित्तवृत्तियों में द्वितीय स्थान पर विपर्यय है। जिसका लक्षण है – **विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।**[11] अर्थात् जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है उसे उस रूप में न जानकर अन्य रूप में जानना, एतत्प्रकारक मिथ्याज्ञान ही विपर्यय चित्तवृत्ति है। यह चित्तवृत्ति प्रमाण से बाधित हो जाने के कारण प्रमाण की श्रेणी में नहीं आती है क्योंकि अप्रमाण का प्रमाण के द्वारा बाधित होना बार –बार देखा गया है जैसे कि दो चन्द्रमा का दिखायी पड़ना एकचन्द्रदर्शन से निराकृत कर दिया जाता है – **यतः प्रमाणेन बाध्यते, भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य। तत्र प्रमाणेन बाधनप्रमाणस्य दृष्टम्। तद्यथा द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यते।**[12] यह चित्तवृत्ति भी क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट रूपों वाली है जैसे कि जब किसी वस्तु में विपर्यय ज्ञान होकर लोक के प्रति वैराग्य

---

[8] व्यासभाष्य, १.७
[9] व्यासभाष्य, १.७
[10] वही
[11] योगसूत्र, १.८
[12] व्यासभाष्य, १.८

उत्पन्न हो जाये तब चित्तवृत्ति अक्लिष्ट होगी तथा जब विपर्यय ज्ञान से ही विषयों में भोग की इच्छा उत्पन्न हो जाये तब वह चित्तवृत्ति क्लिष्ट होगी। यह विपर्यय अविद्या नाम से भी प्रसिद्ध है। इस विपर्यय के ही भेद साधनपाद में पञ्च क्लेशों के रूप में वर्णित हैं यथा – **सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेषाः क्लेशाः।**[13] जिसका केवल शब्दशः ज्ञान हो वस्तुतः उसकी सत्ता ही न हो, ऐसी चित्तवृत्ति विकल्प होती है यथा – **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।**[14] जैसे जिसका कोई प्रमाण न हो लेकिन लोगों की सुनी सुनायी बातों पर विश्वास करके तद्वत् क्रियाकलाप करना विकल्प है। विकल्प चित्तवृत्ति में वास्तविक अर्थ से रहित होने पर भी शब्दज्ञान के माहात्म्य के कारण व्यवहार में व्यक्ति की प्रवृत्ति – निवृत्ति देखी जाती है – **वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते।**[15] जैसे कि चैतन्य पुरुष का स्वरूप है किन्तु यदि चैतन्य ही पुरुष है तो चैतन्य पुरुष का स्वरूप कैसे हो सकता है? क्योंकि चैतन्य को पुरुष का स्वरूप मानने पर चैतन्य पुरुष का विशेषण होगा इस प्रकार चैतन्य – पुरुष में विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होगा। भास्वतीकार विकल्प का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि थोथा अर्थात् निर्वस्तुक ज्ञान ही विकल्प कहलाता है – **अवस्तुवाचकशब्दज्ञानस्यानुजातस्तज्ज्ञाननिबन्धनो वस्तुशून्यो वास्तवार्थशून्यो विकल्पः स इति।**[16] यह चित्तवृत्ति प्रमाण एवं विपर्यय दोनों चित्तवृत्तियों में अन्तर्भावित नहीं हो सकती है तत्त्ववैशारदीकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि – **वस्तुशून्यत्वेऽपीति प्रमाणान्तर्गतिं निषेधति, शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धन इति विपर्ययान्तर्गतिम्।**[17] यह विकल्प चित्तवृत्ति भी यदि विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न करे तो अक्लिष्ट है तथा राग – आसक्ति उत्पन्न करे तो क्लिष्ट है। चतुर्थ चित्तवृत्ति है अभाव। अभाव का लक्षण करते हुए महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं – **अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।**[18] अर्थात् अभाव के ज्ञान का आलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा होती है। आशय यह है कि प्रगाढ़ निद्रा में सोकर उठे हुए व्यक्ति को भी 'मैं सुखपूर्वक सोया' ऐसा ज्ञान होता है। यह निद्रावृत्ति भी एक प्रकार का ज्ञान ही है इसलिए समाधि के समय इसका भी निरोध किया जाना चाहिए – **तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा, सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोधव्येति।**[19] यह निद्रा वृत्ति भी क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट होती है जैसे कि निद्रा से उठे हुए व्यक्ति का चित्त जब भौतिक साधनों में व्यावृत्त हो जाता है तो वह क्लिष्ट वृत्ति होगी तथा जब साधक निद्रा से उठकर सांसारिक विषयों को अनित्य, दुःखयुक्त मान लेता है तो वह अक्लिष्ट वृत्ति होती है। अनुभूत किये हुए विषय का किसी निमित्त के उपस्थित होने पर पुनः प्रकट हो जाना स्मृति नामक चित्तवृत्ति है यथा – **अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।**[20] इस चित्तवृत्ति में प्रारम्भ के प्रमाण, विपर्यय, विकल्प एवं निद्रा चित्तवृत्तियों द्वारा अनुभव में आये विषयों का किसी निमित्त के उपस्थित होने पर विषयों का ज्ञान पुनः स्फुरित हो जाता है – **ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तथाजातीयकं संस्कारमारभते, स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति, तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः, ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः।**[21] विषयों के स्मृतिमात्र से भी आनन्द एवं दुःख का अनुभव होता है अतः यह भी एक स्वतन्त्र चित्तवृत्ति है। यह स्मृति

---

13 वही
14 योगसूत्र, १.६
15 व्यासभाष्य, १.६
16 भास्वती, १.६
17 तत्त्ववैशारदी, १.६
18 योगसूत्र, १.१०
19 व्यासभाष्य, १.१०
20 योगसूत्र, १.११
21 व्यासभाष्य, १.११

कल्पितस्मृति विषय वाली एवं यथार्थस्मृति विषय वाली के भेद से दो प्रकार की होती है। स्वप्नकाल में कल्पितस्मृति विषय वाली स्मृति एवं जाग्रत्काल में यथार्थस्मृति विषय वाली स्मृति होती है – **स्वप्ने भावितस्मर्तव्या, जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति**।[22] इन दोनों प्रकार की स्मृतियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान सुखदुःखमोहात्मक होता है – **सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः**।[23] स्मृति चित्तवृत्ति में भी जब विषयों के स्मरण से मनुष्य को भोगों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाये, वह योगसाधना में श्रद्धा एवं उत्साहपूर्वक प्रवृत्त हो तो ऐसी स्मृति चित्तवृत्ति अक्लिष्ट होती है तथा जब किसी विषय के स्मरण से मनुष्य को भोगों में आसक्ति उत्पन्न हो जाये तो वह चित्तवृत्ति क्लिष्ट है। इस प्रकार ये पाँचों प्रकार की चित्तवृत्तियाँ ही पुरुष को उसके यथार्थ स्वरूप की अनुभूति नहीं करने देती हैं, अपनी प्रकृति के अनुसार पुरुष को सुख –दुःख का अनुभव कराती रहती हैं। इन सभी चित्तवृत्तियों का निरोध आवश्यक है। इन सभी वृत्तियों का निरोध होने पर ही सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधियाँ सिद्ध होती हैं – **आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसम्प्रज्ञातो वेति**।[24]

जगत् प्रपञ्च का सम्पूर्ण व्यापार इन पाँच प्रकार के चित्तवृत्तियों पर ही आश्रित होता है। चित्त और वृत्ति परस्पर अलग – अलग हैं किन्तु इन दोनों के परस्पर संयोग से यह सम्पूर्ण लोक व्यवहार निर्मित होता है तथा इन दोनों के परस्पर वियोग से बन्धन से मुक्ति मिलती है। चित्त का आशय बुद्धि, अहंकार एवं मन इन तीन अन्तःकरणों से है। वैसे तो वेदान्त दर्शन में चित्त को एक स्वतन्त्र अन्तःकरण के रूप में स्वीकृत किया गया है – अनुसान्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिश्चित्तम् अर्थात् अनुसन्धान प्रकार अन्तःकरण का जो व्यापार है वह चित्त है। किन्तु सांख्य एवं योग दर्शन में चित्त को स्वतन्त्र रूप में अन्तःकरण न मानते हुए बुद्धि, अहंकार एवं मन इन तीनों अन्तःकरणों का समाहार रूप ही चित्त कहा गया है। वृत्ति से तात्पर्य व्यापार से है। आशय यह है कि चित्त में विषयों के सम्पर्क से होने वाला जो विकार है व्यापार है वही वृत्ति है। जब तक ये दोनों स्वतन्त्र हैं तब तक इनमें किसी प्रकार का व्यापार नहीं होता है किन्तु जैसे ही ये दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं वैसे ही सुखदुःखात्मक सम्पूर्ण लोक व्यापार प्रारम्भ हो जाता है। एक प्रश्न उठता है कि यदि प्रकृति से साक्षात् एवं परम्परा से उत्पन्न बुद्धि, अहंकार एवं मन ही चित्त हैं तो प्रत्येक मनुष्य को अलग – अलग प्रकार की विषयानुभूति क्यों होती है? इसका उत्तर इस प्रकार है कि मूल प्रकृति सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण की साम्यावस्था है इस प्रकृति के गुणों में विक्षोभ होने पर ही समस्त सृष्टि होती है। प्रकृति में इस प्रकार के विक्षोभ का कारण पुरुष का सन्निकर्ष होता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि भी त्रिगुणात्मिका होगी। त्रिगुणात्मिका बुद्धि से उत्पन्न अहंकार भी सत्त्व, रज एवं तमोगुण से युक्त होगा तथा त्रिगुणात्मक अहंकार से उत्पन्न मन में भी ये तीनों गुण उपस्थित रहेंगे। इन तीनों के समाहार चित्त में भी सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण तीनों ही उपस्थित रहेंगे।

जिस मनुष्य का चित्त जिस प्रकार के गुण से प्रभावित रहेगा उसके चित्त में उसी प्रकार के विषयों का आवागमन होता रहेगा। किन्तु गुण तीन हैं तो तीन ही प्रकार के विषयों का सभी मनुष्यों में अनुभव होना चाहिए? ऐसा नहीं है मुख्य रूप से गुण तीन ही हैं किन्तु उनकी प्रत्येक मनुष्य में कम – अधिक की दृष्टि से वैषम्यता रहती है अतः सभी मनुष्यों में भिन्न – भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ बनती हैं। यह ठीक उसी प्रकार है कि लकड़ी एक ही है किन्तु किसी ने उसका कुर्सी बनाया, किसी ने टेबल, किसी

---

[22] वहीं

[23] वहीं

[24] व्यासभाष्य, १.११

ने कुछ भिन्न किसी ने कुछ भिन्न। इस प्रकार गुणों की वैषम्यता के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में भिन्न भिन्न प्रकार के विषयों का अनुभव होता रहता है। जैसे कि वर्षा सभी जगह एक ही समय में एक ही जैसी होती है, किन्तु प्रत्येक पेड. – पौधों के लिए अलग – अलग रूप में प्रभावकारी होती है।

ये पाँचों वृत्तियाँ ही सम्पूर्ण लोक व्यापार का हेतु हैं। जगत् में जो भी व्यवहार हैं ज्ञान हैं इन्हीं पाँचों के अन्तर्गत आ जाते हैं। पुनः पुरुष की विवेकख्याति भी एक प्रकार का ज्ञान है अतः वह भी चित्तवृत्तियों के विषय के अन्तर्गत आ जायेगा वस्तुतः साङ्ख्य दर्शन का जो विवेकख्याति है वह योग दर्शन के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि है। सांख्य दर्शन के अनुसार जब साधक के चित्त में सत्त्वगुण का उद्रेक होता है तब रजोगुण एवं तमोगुण दबे रहते हैं ऐसी अवस्था में पुरुष को सात्विक विषयों का बोध होता है। चित्त में सत्त्वगुण की अधिकता हो जाती है तो वह पुरुष प्रकृति एवं अन्य सभी तत्त्वों में साधर्म्य – वैधर्म्य को जान लेता है। पुरुष का सभी तत्त्वों में साधर्म्य – वैधर्म्य को जानना ही विवेकख्याति कहलाता है क्योंकि उसने साधर्म्य – वैधर्म्य के द्वारा जैसे ही सभी तत्त्वों को जाना वैसे ही वह इन तत्त्वों में विवेक करने के लिए अग्रसर हुआ और उसकी इस प्रकार की निरन्तर वृत्ति उसको विवेकख्याति की उपलब्धि कराती है। आशय यह है कि पुरुष को अब बोध हो चुका होता है कि वह प्रकृति एवं अन्य तत्त्वों से भिन्न है। जैसा कि पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्बन होने से वह पुरुष बुद्धि के सभी गुण – धर्मों को अपना मानने लगता है तथा सुख – दुःख – मोह आदि को अपना स्वरूप समझने लगता है। यही उसके अज्ञान की अवस्था है। पुरुष सर्वदैव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निश्चल स्वभाव वाला है किन्तु प्रकृति का सान्निध्य होने पर वह अपने स्वरूप को भूल सा जाता है और लोकवत् व्यवहार करने लगता है किन्तु वह पुरुष भी मुक्त होना चाहता है अर्थात् इस अज्ञात से छुटकारा पाना चाहता है। तो चित्त में सात्विक गुण की अधिकता से सकारात्मक वृत्तियों के द्वारा धीरे – धीरे सभी कर्म संस्कार नष्ट किये जाते हैं पुनः पुरुष भी अपने स्वरूप को समझने लगता है तथा अपने स्वरूप का बोध होते ही वह समस्त अज्ञानयुक्त बन्धनों से छूट जाता है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसीलिए संसार के सभी मनुष्यों में अलग–अलग प्रकार की चित्तवृत्ति बनती है भिन्न–भिन्न प्रकार से विषयों का बोध होता है भिन्न–भिन्न प्रकार से सभी की प्रवृत्ति होती है भिन्न–भिन्न प्रकार से ही सभी को फल भी प्राप्त होता है। अतः ये समस्त लोक व्यवहार चित्तवृत्तियों पर ही आश्रित है जिनका उपशमन करना अत्यन्त आवश्यक होता है इसलिए योगसूत्रकार ने प्रारम्भ में ही इन चित्तवृत्तियों के निरोध की चर्चा की है तथा इन चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग नाम दिया है। आशय यह है कि इन चित्तवृत्तियों के निरोध की पूरी प्रक्रिया योग नाम से प्रसिद्ध है।

चूँकि ये पाँचों वृत्तियाँ चित्त के व्यापार हैं और जब तक यह व्यापार चलता है तब तक पुरुष का मुक्त होना सम्भव नहीं। इन चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा कैवल्य की प्राप्ति ही योग का मुख्य प्रयोजन है। चित्त के स्वरूप का विवेचन करने के उपरान्त उस पर निरोध के उपाय का भी विवेचन किया गया है। विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक नामक टीका में तीन प्रकार के साधकों का वर्णन किया है जहाँ उत्तम साधक के लिए अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करना प्रथम उपाय है।[25] तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान से भी योगसिद्धि सम्भव है जो कर्मयोग साधना नाम से प्रसिद्ध है, यह मध्यम कोटि के लिए योगसाधन है।[26] यम, नियम से लेकर समाधि तक क्रमशः विजय

---

[25] अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। योगसूत्र, १.१२

[26] तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। योगसूत्र, २.१

प्राप्त करते हुए अष्टाङ्गयोग द्वारा अधम साधक भी योगसिद्धि कर कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं।[27] जिसके चित्त में सांसारिक विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगा है और जो अब निरन्तर परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है वही अधम साधक है। इस प्रकार इन तीन स्तरों पर साधकों द्वारा योग सिद्ध किया जा सकता है।

योगदर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय के सन्दर्भ में भगवान् पतञ्जलि ने एक सूत्र रचना की है जो है – **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**।[28] अर्थात् पूर्व में जिन पाँच चित्तवृत्तियों का वर्णन किया गया है उनका निरोध अभ्यास एवं वैराग्य के निरन्तर प्रयोग द्वारा किया जा सकता है। सूत्र की व्याख्या करते हुए व्यासभाष्यकार ने चित्त को नदी के समान बताया है किन्तु एक सामान्य नदी केवल एक ही धारा में प्रवाहित होती है किन्तु यह चित्तरूपी नदी परस्पर विरुद्ध दोनों धाराओं में बहने वाली है। यह चित्तरूपी नदी कल्याण एवं पाप दोनों के लिए बहने वाली होती है जैसे कि जब चित्त कैवल्याभिमुखी होकर विवेकपूर्ण विषयों का अनुगमन करती है तब वह कल्याण के लिए बहने वाली होती है तथा जब वह सांसारिक विषयों के प्रति अभिलिप्त होकर अविवेकपूर्वक विषयों का अनुगमन करती है तो वह पाप की ओर बहने वाली होती है – **चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय वहति पापाय च, या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा, संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा**।[29] ऐसी स्थिति में वैराग्य नामक उपाय चित्त को विषयहीन करके अर्थात् विषयों से चित्त को हटाकर चित्त को निर्विषयी कर देता है तथा विवेकपूर्ण विषयों का निरन्तर अभ्यास करने से चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने से पुरुष अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेता है – **तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः**।[30] भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में मनोनिग्रह के लिए अभ्यास एवं वैराग्य को प्रधान उपाय बताया है। यह मन निःसन्देह अत्यन्त चञ्चल एवं दुर्निग्रह है किन्तु इसको भी अभ्यास एवं वैराग्य से नियन्त्रित कर सकते हैं यथा –

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।[31]

महर्षि पतञ्जलि ने अभ्यास का लक्षण करते हुए कहा है कि भौतिक विषयों में संलिप्त चञ्चल चित्त को शान्त एवं स्थिर करने के लिए बारम्बार प्रयत्न करना ही अभ्यास है यथा – **तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः**।[32] शब्दकल्पद्रुम में अभ्यास का लक्षण प्राप्त होता है – **चित्तस्यैकस्मिन्नभ्यन्तरे बाह्ये वा प्रतिमादावालम्बने सर्वतः समाहृत्य पुनः पुनः स्थापनमभ्यासः** अर्थात् चित्त को बाहरी अन्य सभी विषयों से समाहरण कर यदि सम्भव है तो आभ्यन्तर आलम्बन में बार–बार प्रयत्नपूर्वक स्थापित करना चाहिए, यदि आभ्यन्तर आलम्बन में स्थापित नहीं हो पा रहा है तो बाह्य आलम्बन जैसे कि कोई प्रतिमा, चित्र, व्यक्ति या अन्य कोई भी आलम्बन जिसमें आप आसानी से चित्त को स्थापित कर सकते हैं; उसमें चित्त को अन्य बाह्य विषयों से हटाकर बार बार प्रयत्नपूर्वक स्थापित करना ही अभ्यास कहलाता है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि

27 योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। योगसूत्र, २.२८
28 योगसूत्र, १.१२
29 व्यासभाष्य, १.१२
30 वही
31 श्रीमद्भगवद्गीता, ६.३५
32 योगसूत्र, १.१३

राजस एवं तामस वृत्तियों से रहित होकर चित्त का शान्तरूप में प्रवाहित होना चित्त की स्थिति है तथा इस प्रकार से निस्तरङ्ग रूप में चित्त के प्रवाहित होने के लिए मानसिक एवं शारीरिक प्रयास प्रयत्न है तथा इसी स्थिति को निरन्तर रूप में बनाये रखने के उसके साधनों का अनुष्ठान करना अभ्यास है यथा– **चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः, तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः, तत्सम्पिपादविषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः।**[33] भामतीकार अभ्यास का लक्षण करते हुए कहते हैं कि प्रशान्तवाहिता स्थिति में रहने हेतु जो प्रयास किया जाता है वही अभ्यास है– **स्थित्यर्थं यो यत्नः सोऽभ्यासः।**[34] प्रशान्तवाहिता स्थिति को परिभाषित करते हुए योगवार्त्तिककार कहते हैं कि हर्षशोकादि चित्तगत तरङ्गों से रहित होकर एकाग्रवृत्ति का अनुलम्बन करना प्रशान्तवाहिता स्थिति है– **हर्षशोकादितरङ्गरहिता या एकाग्रवृत्तिधारा।**[35] प्रशान्तवाहिता का स्वरूप बताते हुए तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि विमल, सात्त्विक वृत्तियों का प्रवाह होना एवं एकाग्रता का भाव रहना प्रशान्तवाहिता स्थिति है– **विमला सात्त्विकवृत्तिवाहिता एकाग्रता स्थितिस्तदर्थ इति।**[36] आशय यह है कि चित्त का राजस एवं तामस गुणों से रहित होकर सात्विक उद्रेकपूर्वक एकाग्रता का भाव रहना ही प्रशान्तवाहिता स्थिति है। स्थिति के साधनों के प्रसङ्ग में तत्त्ववैशारदीकार कहते हैं कि इस प्रशान्तवाहिता स्थिति के साधन अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग यमनियमादि ही परम साधन हैं– **स्थितिसाधनानि अन्तरङ्गबहिरङ्गाणि यमनियमादीनि।**[37] भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे धनञ्जय ! यदि तुम चित्त को मुझमें स्थापित नहीं कर पा रहे हो तो चित्त को सभी ओर से खींचकर अभ्यासयोग द्वारा मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न करो – **अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।**[38] चित्तशुद्धि के लिए अभ्यास को अनेकों रूपों में बताया गया है जैसे कि जब चित्त को एकाग्र करने में बार बार विघ्न उत्पन्न हो रहा हो तो किसी एक वस्तु में चित्त को बार–बार प्रयत्न करके स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए, यह एकाग्रता के लिए किया गया अभ्यास है – **तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।**[39] इसी प्रकार चित्त के रागद्वेषादि दोषों का नाश करने के लिए साधक द्वारा सुखी मनुष्य के प्रति मित्रता की भावना रखनी चाहिए, दुःखी मनुष्य के प्रति दया की भावना करनी चाहिए, पुण्यात्मा मनुष्य के प्रति प्रसन्नता की भावना रखनी चाहिए तथा पापी मनुष्य के प्रति उपेक्षा की भावना करनी चाहिए। ये मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा चित्तप्रसादन के उपाय बताये गये हैं। तथा इनका बारम्बार अभ्यास करने से ही ये प्रतिफलित होते हैं – **मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादन्।**[40] इसी प्रकार नियमपूर्वक वायु के बार बार बाहर निकालने एवं रोकने का अभ्यास करने से भी चित्त निर्मल हो जाता है। यह अभ्यास भी दीर्घकाल तक निरन्तर एवं आदरपूर्वक सेवन करने से अत्यन्त दृढ हो जाता है यथा – **स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः।**[41] आशय यह है कि जब साधक दीर्घकाल तक प्रशान्तवाहिता स्थिति में रहते हुए सत्कारपूर्वक अर्थात् शास्त्रों में बताये गये नियमों तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा से युक्त होकर अभ्यास करता है तो वह अभ्यास दृढभूमि वाला हो जाता है। दृढभूमि मतलब अभ्यास सुस्थिर

---

[33] व्यासभाष्य, १.१३
[34] भास्वती, १.१३
[35] योगवार्त्तिक, १.१३
[36] तत्त्ववैशारदी, १.१३
[37] तत्त्ववैशारदी, १.१३
[38] श्रीमद्भगवद्गीता, १२.९
[39] योगसूत्र, १.३२
[40] योगसूत्र, १.३३
[41] योगसूत्र, १.१४

एवं सुदृढ हो जाता है **दीर्घकालासेवितो, निरन्तरासेवितः, सत्कारासेवितः, तपसा, ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान्दृढभूमिर्भवति**।[42] सुदृढ अभ्यास से प्रशान्तवाहिता स्थिति में स्थित चित्त व्युत्थान के समय तुरन्त ही अभिभूत नहीं होता है खण्डित नहीं होता है – **व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषयः इत्यर्थः**।[43] इस प्रकार चित्तवृत्ति के निरोध के उपाय अभ्यास का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह अभ्यास योगसिद्धि में अत्यन्त सहायक है क्योंकि प्रत्येक प्रक्रिया में अभ्यास का होना अत्यन्त आवश्यक है।

चित्तवृत्तिनिरोध के लिए दूसरा साधन वैराग्य है। वैराग्य का सामान्य अर्थ है – विरक्ति। जो वस्तु अत्यन्त प्रिय हो उसकी वास्तविकता जानने के बाद उसके प्रति निस्पृह भाव उत्पन्न हो वही विरक्ति है। सांसारिक विषयों में राग ही पुनर्जन्म का कारण है, यह राग, यह आसक्ति जब तक है तब तक पुरुष का मुक्त हो पाना असम्भव है। इसलिए चित्त को विषयों से निस्पृह रखना आवश्यक है। महर्षि पतञ्जलि ने उत्तम कोटि के वैराग्य का लक्षण करते हुए कहा है कि **दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्**।[44] अर्थात् अन्तरिन्द्रिय एवं भौतिक इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भौतिक विषयों एवं शास्त्रविदित भोगों एवं स्वर्गादि विषयों के प्रति चित्त जब तृष्णारहित अर्थात् निस्पृह हो जाता है आशय यह है कि जब इन विषयों के भोगने की इच्छा न रह जाये, वह कामनारहित चित्त की वशीकार नामक अवस्था वैराग्य है। इस विवेकपूर्ण वैराग्य से युक्त चित्त जब इस निश्चल अवस्था का बारम्बार अभ्यास करता है तो चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। लोक में स्त्री, अन्न, पान, सम्पत्ति एवं ऐश्वर्यादि ही लौकिक विषय हैं तथा स्वर्गादि पारलौकिक विषय हैं, इन दोनों प्रकार के विषयों की उपलब्धता होने पर भी जब चित्त उसके प्रति आकर्षित नहीं होता है, चित्त विषयों में दोष देखने लगता है, विवेकज्ञान के बल से भोगने का भाव त्यागकर उसके प्रति स्पृहाशून्य हो जाता है वही उपेक्षाबुद्धि की स्थिति वशीकार संज्ञक वैराग्य है। चूँकि यहाँ सूत्रकार ने परम वैराग्य का उल्लेख कर दिया है किन्तु उससे भी पूर्व तीन अन्य वैराग्य भी प्राप्त होते हैं। वैराग्य के कुल चार चरण इस प्रकार हैं – यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा एवं वशीकार संज्ञा। ये चारों वैराग्य क्रमशः वैराग्य की ही अवस्था हैं जैसे कि यतमान संज्ञक वैराग्य में साधक विषयों को छोड़ना तो चाहता है किन्तु वह उन्हें छोड़ नहीं पाता है। व्यतिरेक संज्ञक वैराग्य में कुछ विषयों में विरक्ति तो हो जाती है किन्तु कुछ विषयों में अभी भी राग होता ही है। एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य में सभी विषयों के प्रति इन्द्रियों का तो आकर्षण नहीं रहता है किन्तु मन में उन विषयों का चिन्तन होता रहता है तथा अन्तिम वशीकार संज्ञक वैराग्य में इन्द्रियों के साथ–साथ मन में भी वैराग्य हो जाता है इस प्रकार अन्तिम वशीकार संज्ञक वैराग्य की स्थिति में सभी विषयों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है यही परम वैराग्य है यही अपर वैराग्य है। इस प्रकार चित्तवृत्तियों के निरोध में अभ्यास एवं वैराग्य ही परम साधन हैं।

14.3 सारांश

योगदर्शन मुख्यतः चित्तवृत्ति के निरोध का विवेचन करता है। चित्तवृत्ति निरोध के प्रसङ्ग में ही सम्पूर्ण योगसूत्र की रचना हुई है। चित्तवृत्ति निरोध में सहायकभूत अनेक विषयों का प्रतिपादन तथा योगसिद्धि के काल में ही प्राप्त होने वाले कुछ प्रमुख

42 व्यासभाष्य, १.१४
43 वहीं
44 योगसूत्र, १.१५

विभूतियों का भी उल्लेख किया गया है। योग के स्वरूप को पूर्ण रूप से जानने के क्रम में चित्तवृत्तियों को जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा गया है। चित्त का व्यापार ही चित्तवृत्ति है। चित्त का विभिन्न विषयों में गमन ही चित्तवृत्ति है। यह चित्तवृत्ति भी प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति के भेद से पाँच प्रकार की है। ये सभी चित्तवृत्तियाँ क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट दोनों प्रकार की होती हैं। कहने का आशय है कि ये पाँचों चित्तवृत्तियाँ विषयों के प्रति इच्छा उत्पन्न करके बन्धन में डालती हैं तो विषयों के प्रति स्पृहा उत्पन्न करने उनसे निवृत्त भी करती हैं। इन चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा ही सम्भव है। जब चित्त में राजसिक एवं तामसिक विषयों का प्रवाह बन्द हो जाये तथा निरन्तर सात्विक विषयों का ही प्रवाह होता रहे चित्त भी किसी एक आलम्बन के प्रति आकृष्ट हो, ऐसी स्थिति को बनाये रखने के लिए बार–बार प्रयत्न करना ही अभ्यास होता है। लौकिक एवं पारलौकिक विषयों के प्रति निस्पृह होना वैराग्य कहलाता है। ये दोनों उपाय ही चित्तवृत्तियों का पूर्णतया निरोध कर सकते हैं।

14.4 शब्दावली

चित्त	बुद्धि, मन एवं अहंकार का समाहार रूप
चित्तवृत्ति	चित्त का विषयों में व्यापार
चित्तवृत्तिनिरोध	चित्त को विषयों में जाने से रोकना
प्रमाण	प्रथम चित्तवृत्ति, प्रत्यक्षादि ज्ञान का हेतु
विपर्यय	द्वितीय चित्तवृत्ति, अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान
विकल्प	तृतीय चित्तवृत्ति, निर्वस्तुक विषय का ज्ञान होना
निद्रा	चतुर्थ चित्तवृत्ति, अभावप्रत्यय का आलम्बन करने वाली वृत्ति
स्मृति	पंचम चित्तवृत्ति, अनुभूत विषय की पुनः उपस्थिति
क्लिष्ट	अविद्यादि क्लेश से युक्त चित्तवृत्ति
अक्लिष्ट	विवेकज्ञान से युक्त चित्तवृत्ति
अभ्यास	निरन्तर प्रयत्न करना
वैराग्य	विषयों में विरक्ति
दृष्ट	लौकिक विषय
आनुश्रविक	पारलौकिक विषय

14.5 बोध / अभ्यास प्रश्न

१. चित्तवृत्ति क्या है? भेदपूर्वक विवेचन करें।

२. प्रमाण नामक चित्तवृत्ति भेदपूर्वक वर्णन करें।

३. चित्तवृत्ति निरोध के उपायों का उल्लेख करें।

४. चित्तवृत्ति निरोध के उपाय अभ्यास का शास्त्रीय विवेचन करें।

५. चित्तवृत्ति निरोध के उपाय वैराग्य का महत्त्व स्पष्ट करें।

14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. पातञ्जल योगसूत्र, व्याख्याकार, श्रीनन्दलाल दशोरा, हरिद्वार, रणधीर प्रकाशन, १६६७।

२. योगदर्शन (प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या), व्याख्याकार, स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी, मुम्बई, श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट।

३. योगदर्शन, व्याख्याकार, पं. राजाराम प्रोफेसर, लाहौर, साहित्य प्रचारक मण्डल, १६२२।

४. पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार, डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

५. पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार, श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, अजमेर, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस १६३२।

६. पातञ्जलयोगसूत्र (बंगाली बाबा व्याख्या), हिन्दी अनुवादक, कुमारी वृजरानी देवी, पूना, एन.आर.भार्गव, १६४८।

७. योगदर्शन समीक्षा, लेखक – पं. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, १६६७।

८. योगतत्त्वाङ्क, कल्याण विशेषाङ्क, गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष १६६।

६. भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व, लेखक – एम. हिरियन्ना, अनु. प्रकाश नारायण शर्मा, सेन्ट्रल बुक डिपो, १६५४।

१०. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, लेखक – प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १६७४।

११. भारतीय दर्शन, लेखक – आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, चौखम्भा ओरियन्टालिया, १६७६।

१२. भारतीय दर्शन, लेखक – वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, २००६।

१३. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, लेखक – चन्द्रधर शर्मा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, २०१०।